मास्टर ऑफ आर्ट्स (हिन्दी)

एम.ए. (हिन्दी)
अन्तिम वर्ष

काव्यशास्त्र एवं साहित्यलोचन
(प्रथम प्रश्न पत्र)

दूरवर्ती अध्ययन एवं सतत् शिक्षा केन्द्र
महात्मा गांधी चित्रकूट ग्रामोदय विश्वविद्यालय,
चित्रकूट [सतना] म.प्र. - ४८५३३४

काव्यशास्त्र एवं साहित्यकलोचन

ई–संस्करण 2023–24 / M.A Hindi. –II - 31

प्रेरणा एवं मार्गदर्शन :

प्रो. भरत मिश्र

कुलपति

महात्मा गाँधी चित्रकूट ग्रामोदय विश्वविद्यालय, चित्रकूट (म.प्र.)

पाठ्यक्रम निर्माण

डॉ. सुधीर कुमार शर्मा

पाठ्यक्रम संयोजक

डॉ. कुसुम कुमारी सिंह

पाठ्यक्रम अभिकल्पना एवं सम्पादक मण्डल :

डॉ. कमलेश थापक डॉ. ललित सिंह

डॉ. कुसुम कुमारी सिंह डॉ. राममूर्ति त्रिपाठी

मुद्रण प्रस्तुति

डॉ. सन्तोष अरसिया, उपकुलसचिव (दूरवर्ती परीक्षा)

सन्तोष राजपूत, सहायक कुलसचिव (दूरवर्ती परीक्षा)

शिवांगी त्रिपाठी

सम्पर्क सूत्र :

डॉ. कमलेश थापक, निदेशक, दूरवर्ती शिक्षा

दूरवर्ती अध्ययन एवं सतत् शिक्षा केन्द्र

महात्मा गाँधी चित्रकूट ग्रामोदय विश्वविद्यालय, चित्रकूट (म.प्र.)

दूरभाष– 07670–265460, E-mail – directordistancemgcgv@gmail.com, website : www.mgcgvchitrakoot.com

प्रकाशक :

दूरवर्ती अध्ययन एवं सतत् शिक्षा केन्द्र

महात्मा गाँधी चित्रकूट ग्रामोदय विश्वविद्यालय, चित्रकूट (म.प्र.)

प्राक्कथन...

मर्यादा पुरुषोत्तम श्रीराम की तपोस्थली, मंदाकिनी नदी के सुरम्य तट पर स्थापित महात्मा गांधी चित्रकूट ग्रामोदय विश्वविद्यालय भारतरत्न नानाजी देशमुख के शैक्षिक चिंतन और संकल्पों की जीवंत अभिव्यक्ति है, जो म.प्र.शासन द्वारा 12 फरवरी, 1991 को विशेष अधिनियम 09, 1991 द्वारा स्थापित हुआ।

विश्वविद्यालय का ध्येय वाक्य है–'विश्वं ग्रामे प्रतिष्ठितम्' अर्थात ग्राम विश्व का लघु रूप है। विश्वविद्यालय चित्रकूट में स्थित है, जो एक प्रसिद्ध तीर्थ स्थल है। नई पीढ़ी के लिये यह स्थान आदर्श एवं प्रेरणा का केन्द्र है।

विश्वविद्यालय में कृषि, प्रबंधन, अभियांत्रिकी, लोक विज्ञान, ग्रामीण विकास एवं स्थानीय स्वशासन, लोक शिक्षा, कला, संस्कृति एवं साहित्य सहित सभी अकादमिक धारायें प्रभावी रूप में उपस्थित हैं। विश्वविद्यालय, ग्राम को समाज जीवन की मूल इकाई मानकर शिक्षण, प्रशिक्षण, शोध और प्रसार कार्यों से सर्वांगीण विकास के लिए विगत 3 दशकों से अधिक समय से समर्पित प्रयास कर ग्रामोदय से राष्ट्रोदय के संकल्प में लगा हुआ है। विश्वविद्यालय ने अपनी गतिविधियों और कार्यक्रमों के माध्यम से कौशल विकास के उन्नयन एवं प्रमाणन तथा सतत विकास लक्ष्यों की प्राप्ति में महत्वपूर्ण योगदान कर रहा है तथा शासन के सहयोगी के रूप में उल्लेखनीय भूमिका का निर्वहन कर रहा है।

प्राचीन एवं सनातन भारतीय ज्ञान की परम्परा के आलोक में आई, राष्ट्रीय शिक्षा नीति–2020 चिरवांछित जन आकांक्षाओं की सम्यक् अभिव्यक्ति है। राष्ट्रीय शिक्षा नीति के युगान्तरकारी प्रावधानों को लागू करने में मध्यप्रदेश अग्रणी राज्य रहा है।

राष्ट्रीय शिक्षा नीति ने नवाचारों के लिए सकारात्मक और अनुकूल वातावरण उपलब्ध कराया है। विद्यार्थियों की पठन–पाठन की स्वतंत्रता, कौशल विकास के समुचित अवसर तथा राष्ट्रीय प्राथमिकताओं के अनुसार आने वाले भविष्य के लिए तैयार करने की प्रतिबद्धता राष्ट्रीय शिक्षा नीति के प्रावधानों में स्पष्टतः दिखाई देती है।

विश्वविद्यालय ने राष्ट्रीय शिक्षा नीति के प्रावधानों को दूरवर्ती के विभिन्न पाठ्यक्रमों में अर्थपूर्ण रूप से जोड़कर इन्हें सत्र 2023–24 से पुनः संशोधित/परिवर्धित रूप में प्रारम्भ किया है। विश्वविद्यालय उच्च शिक्षा के प्रसार एवं रोजगार के अवसर बढ़ाने हेतु दूरवर्ती माध्यम से ग्रामीण क्षेत्रों में विशेष प्रयास कर रहा है। दूरवर्ती पद्धति से संचालित विभिन्न पाठ्यक्रमों में नियमित संपर्क कक्षाओं के आयोजन, उच्च शिक्षा की स्व–अध्ययन सामग्री एवं नई शैक्षिक प्रौद्योगिकी का उपयोग करते हुए शिक्षार्थी को बेहतर शैक्षणिक अनुभव प्रदान करने की व्यवस्था सुनिश्चत की जा रही है।

विश्वविद्यालय के दूरवर्ती अध्ययन एवं सतत शिक्षा केन्द्र द्वारा सत्र 2024–25 में संचालित परास्नातक, स्नातक तथा डिप्लोमा स्तरीय दूरवर्ती पाठ्यक्रमों के शिक्षार्थियों हेतु ई–स्वनिर्देशित अध्ययन सामग्री प्रस्तुत करते हुये मुझे हर्ष का अनुभव हो रहा है।
पाठ्यक्रम से जुडे सभी शिक्षार्थियों, अभिभावकों, प्रशासकों, समन्वयकों और अन्य सभी को मेरी मंगलकामनायें

प्रो. भरत मिश्रा
कुलपति

काव्यशास्त्र एवं साहित्यालोचन

इकाई – 1 : काव्य लक्षण

इकाई – 2 : वक्रोति सिद्धांत एवं अवधारणा

इकाई – 3 : प्लेटो का काव्य सिद्धांत

इकाई – 4 : हिन्दी आलोचना की प्रमुख प्रवृत्तियां

इकाई – 5 : आलोचना का स्वरूप एवं प्रकार्य

इकाई–1

काव्य लक्षण

NOTES

सामान्यतः लक्षण के अन्तर्गत काव्य की परिभाषा की चर्चा की जाती है, फिर भी लक्षण शब्द का अर्थ परिभाषा नहीं है। लक्षण का अर्थ, लक्षित विग्रहों, चिह्नों, तत्वों का उल्लेख। दूसरे शब्दों में काव्य के विशिष्ट तत्वों की ओर इंगित करना ही काव्य लक्षण है। काव्य क्या है ? संस्कृत काव्य शास्त्र में इसे दो प्रकार से समझाया गया है– प्रथम कवि व्यापार की दृष्टि से, द्वितीय लक्षण निर्देश के माध्यम से। कवि व्यापार की दृष्टि को समझाते हुए आचार्य राजेश्वर इसकी व्युत्पत्ति इस प्रकार देते हैं –

''कवि शब्दस्य 'कवृ' वर्णे इत्यस्य धातोः।

काव्य कर्मणो रूपम।''

अर्थात् कवि शब्द की व्युत्पत्ति कवृ धातु से हुई है जिसका अर्थ है काव्य कर्म। अभिनव गुप्त बताते हैं– 'कवनीयम इति काव्यम्' अर्थात् रचना व्यापार काव्य है। काव्य प्रकाश में मम्मट ने बताया है– 'लोकोत्तर वर्णननिपुण कवि कर्म काव्यम्' अर्थात् लोकोत्तर आनंद की प्राप्ति कराने वाली कवि की भाषिक अभिव्यक्ति ही काव्य है। विद्याधर के अनुसार –

'कवयतीति इति कविः तस्य कर्म काव्यम्।'

अर्थात् काव्य रचना करने वाला कवि कहलाता है। कवि कर्म ही काव्य है। काव्य का स्वरूप बड़ा ही जटिल है। वह सूक्ष्म और व्यापक दोनों है। अतः उसे लक्षण की रेखा में बांधना अत्यंत कठिन कार्य है। आदिकाल से लेकर आज तक काव्य के अनेक लक्षण विद्वानों, कवियों और सहृदयों ने दिए हैं। काव्य का स्वरूप यद्यपि इन लक्षणों और परिभाषाओं में बँध नहीं पाता, फिर भी हम इन लक्षणों के अध्ययन से उसके विविध रूप और तत्वों को समझ सकते हैं। इसके लिए हम सर्वप्रथम भारतीय काव्य की परिभाषाओं पर विचार करेंगे। तत्पश्चात काव्य की परिभाषाओं पर।

भारतीय काव्य की परिभाषा

आचार्य भामह ने काव्य की परिभाषा देते हुए कहा कि– ''शब्दार्थौं सहितो काव्यम्'' अर्थात् शब्द और अर्थ का साथ होना ही काव्य का लक्षण है। कुन्तक के अनुसार भामह के ''शब्दार्थौं सहितो काव्यम्'' अर्थात शब्द और अर्थ का साथ होना ही काव्य लक्षण है। कुन्तक के अनुसार भामह ''शब्दार्थौं सहितो काव्यम्'' के आधार पर

NOTES

ही सम्भवतः काव्य पर आधारित तथा काव्य की पूर्वोक्त परिभाषा को ध्यान में रखते हुए राज शेखर ने कहा है–

''शब्दार्थ योर्यथावत सदृभावेन विर्दया विद्या''

आचार्य भामह ने शब्द और अर्थ को समान महत्व देते हुए यह भी निरूपित किया है कि काव्य निर्दोष तथा सालंकार होना चाहिए। भामह के अनुसार अभिव्यंजना की अनेक रीतियाँ हो सकती हैं पर वक्रोति पर आधारित रीति ही सर्वोत्तम होती है। इसी आधार पर आचार्य देवेन्द्रनाथ शर्मा भामह को वक्रोतिवादी मानने का आग्रह करते हैं।

आचार्य मम्मट ने काव्य का स्वरूप बतलाते हुए कहा है –

''तद्दोसौ शब्दार्थौ सगुणावनलंकृती पुनः क्वापि''

मम्मट ने उस शब्दार्थ युगल को काव्य कहा है जो दोष सहित हो और जो कभी–कभी अलंकार रहित भी हो, क्योंकि इससे काव्यत्व की हानि नहीं होती है। उन्होंने शब्द अर्थ की समष्टि को काव्य माना है।

आचार्य विश्वनाथ ने इस रस को काव्य की आत्मा मानकर काव्य लक्षण में उसे स्थान देते हुए लिखा है –

''वाक्यं रसात्मंक काव्यम्''

उन्होंने रसात्मक वाक्य को ही काव्य माना है। इस अर्थ में काव्य का क्षेत्र अत्यंत संकीर्ण हो जाता है। यदि हम रस का अर्थ सरसता, माधुर्य आदि से लेते हैं तब हम जिसमें मन को रमाने वाली विशेषता हो, जिसमें हमारा मन रम सके, वह काव्य है, ऐसी दशा में इस सरसता का सम्पादन अनेक बातों से हो सकता है। जैसे अलंकार उक्ति वैचित्रय आदि। इस अर्थ में यह परिभाषा व्यापक और सर्वजन सुलभ है।

श्री आनन्दवर्धन जी ने काव्य की आत्मा ध्वनि को माना है वे कहते हैं– ''काव्यस्यात्मा ध्वनि रीति'' अर्थात् काव्य का सार ध्वनि है। पण्डित राज जगन्नाथ जी ने ''रमणीयार्थ प्रतिपादकः शब्दः काव्यम्'' अर्थात् रमणीय अर्थ का प्रतिपादन करने वाला शब्द काव्य है। इस परिभाषा पर कुछ लोगों द्वारा आपत्ति की गई उनका कहना था कि– काव्य के अंतर्गत शब्द में सदैव रमणीयता नहीं रहती अपितु पूरे वाक्य से रमणीयता प्रतिपादित होती है। पण्डित जगन्नाथ ने आचार्य विश्वनाथ की काव्य परिभाषा को और अधिक सरस तथा विकसित रूप में अभिव्यक्त कर दिया है। क्योंकि रमणीयता द्वारा कवि प्रतिभा स्वच्छन्द वातावरण से विकसित होती है।

उपर्युक्त परिभाषाओं के विवेचन एवं विश्लेषण के बाद यह कहा जा सकता है कि शब्द, अर्थ अथवा दोनों की रमणीयता से युक्त वाक्य रचना को काव्य कहते हैं। शब्द की रमणीयता, शब्दालंकार, रीति, वृत्ति, संगीत तत्व आदि के रूप में देखी जा सकती है और अर्थ की रमणीयता, अर्थालंकार वक्रोति, ध्वनि, रस आदि में प्रकट होती है। डॉ. सत्यदेव चौधरी के विचार से संस्कृत काव्य शास्त्रियों में पण्डित जगन्नाथ का काव्य लक्षण सर्वोत्कृष्ट है।

NOTES

पाश्चात्य आचार्यों की परिभाषा

भारतीय विद्वानों के समान ही पाश्चात्य विद्वानों ने भी काव्य की परिभाषा दी है। सर्वप्रथम हम अरस्तू को लेंगे जिनके अनुसार काव्य की परिभाषा है– ''काव्य एक कला है जिसका आधार भूत सिद्धांत वह अनुसरण है जो कि भाषा के माध्यम से किया गया हो।'' अरस्तू की परिभाषा प्रशंसनीय तो है लेकिन काव्य कला का आधारभूत सिद्धात अनुकरण को मान लेना सही नहीं कहा जा सकता है।

दूसरी परिभाषा सर पीडी ने प्रस्तुत की है– ''काव्य अनुसरण की कला है। उसे आलंकारिक रूप में बोलती तस्वीर का कहा जा सकताहै।'' अरस्तु और पीडी सिडनी की यह परिभाषा– पाश्चात्य विद्वानों को मान्य नहीं थी। दोनों में अंतर इतना था कि अरस्तू काव्य कला को अनुकरण के समान मानते हैं और पीडी सिडनी अनुकरण को कला।

शेक्सपियर ने काव्य की परिभाषा में कल्पना को ही सब कुछ माना है जबकि शैली ने काव्य को कल्पना की अभिव्यक्ति माना है और उसका सम्बन्ध सुख प्राप्ति से जोड़ा है। मिल्टन ने काव्य की परिभाषा इस प्रकार प्रस्तुत की है– ''काव्य सरल बाह्य विषयात्मक तथा उद्दाम भावना जन्य होना चाहिए।'' मिल्टन ने अनुकरण और कल्पना से आगे बढ़कर उद्दाम भावना को स्वीकार किया है। किन्तु इसे काव्य की परिभाषा नहीं कहा जा सकता है। प्रसिद्ध विद्वान जानसन के अनुसार– ''काव्य छन्दो बद्ध रचना है।'' मेकाले के अनुसार– ''काव्य कल्पना पर भ्रम का आवरण है।'' कॉलरिज ने काव्य की परिभाषा में शब्द को महत्ता दी और शब्दार्थ की ओर ध्यान नहीं दिया है। केटी कार्लाइल ने काव्य को एक उच्चतम संगीत माना है। यह परिभाषा भी सही नहीं है, क्योंकि काव्य और संगीत दो कलाएं है।

भारतीय एवं पाश्चात्य विद्वानों ने काव्य की परिभाषा अपने अपने विचारों के अनुरूप दी। वस्तुतः काव्य सार्वदेशिक एवं सार्वकालिक वस्तु है इसलिए विश्व के साहित्य में काव्य की आत्मा एवं काव्य लक्षण पर पूर्णतः विचार किया गया है। तर्क की कसौटी पर किसी भी विद्वान ने ऐसी परिभाषा प्रस्तुत नहीं की जिस पर किसी कोई आपत्ति न हो या किसी प्रकार की शंका के लिए कोई स्थान न हो। महादेव वर्मा ने ठीक ही लिखा है– ''कविता मनुष्य के हृदय के समान ही पुरातन है। परंतु

अब तक उसकी कोई ऐसी परिभाषा न बन सकी जिसमें तर्क–वितर्क की सम्भावना न रही हो।''

NOTES

काव्य प्रायोजन

संस्कृत काव्य शास्त्र में आचार्यों ने काव्य प्रायोजन पर विस्तार से विचार किया है। सभी आचार्यों ने काव्य प्रयोजन को अपनी दृष्टि से देखा है, इस प्रक्रिया में उन्होंने लेक पक्ष से अध्यात्म पक्ष को काव्य के प्रयोजन में शामिल किया है। इन आचार्यों की मान्यताओं में मतैक्य भी है और विरोध भी। सर्वप्रथम हम आचार्य भरत की चर्चा करेंगे। आचार्य भरत ने काव्य प्रयोजनों की चर्चा नाटक के संदर्भ में की है। उन्होंने नाटक को प्रयोजन, धर्म, यश, हित साधन, आयुवर्द्धन बुद्धिवर्धन एवं लोकोपदेश माना है। आचार्य मामह ने धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष के अतिरिक्त कलाओं में विलक्षणता पाना, कीर्ति और आनंद की उपलब्धि को काव्य प्रयोजन माना है।

आचार्य वामन ने काव्य प्रयोजनों को दो भागों में बाँटा है जो निम्नलिखित हैं–

1. दृष्ट प्रयोजन
2. अदृष्ट प्रयोजन

आचार्य वामन ने कीर्ति प्राप्ति को अदृष्ट प्रयोजन और प्रीति तथा आनंद प्राप्ति को दृष्ट प्रयोजन माना है।

आचार्य मम्मट ने 'काव्य प्रयोजनों' पर व्यापक रूप से विचार किया है। उन्होंने काव्य के छः प्रयोजन बताए हैं–

''काव्यं यश सेडअर्थकृते व्यवहार विदे, शिवेतरक्षतये।

सदयः परिनिर्वृत्तये कान्ताः सम्मितयोपदेश युजे।''

आचार्य मम्मट के इस श्लोक में छः प्रयोजन हैं जो निम्नलिखित हैं –

1. काव्यंयशसे :

यश प्राप्ति को आचार्य मम्मट ने अपने ग्रन्थ काव्य प्रकाश में सर्वाधिक महत्व दिया है। यश प्राप्ति के उद्देश्य से प्रवृत होकर कवि रचना करता है।

2. काव्यं अर्थकृते :

अपनी आजीविका तथा संसार में उपलब्ध सुखों की प्राप्ति के लिए साधन के रूप में काव्य का प्रयोजन एक पुरानी मान्यता है।

3. काव्य व्यवहार विदे

मम्मट ने व्यावहारिक ज्ञान को काव्य का तीसरा प्रयोजन माना है। काव्य के प्रणयन के दौरान कवि मानव के उदय और सामाजिक अवस्थाओं का सूक्ष्म अध्ययन करता है। पाठक भी काव्य के अध्ययन के द्वारा समाज और मानव चरित्र की जानकारी प्राप्त करता है।

NOTES

4. काव्यं शिवेत रक्षतये

अमंगल निवारण तथा कल्याण को काव्य का चतुर्थ लक्षण आचार्य मम्मट ने स्वीकार किया है। मम्मट ने काव्य प्रकाश में कवि मयूर का उदाहरण दिया है, जिन्होंने सौ श्लोकों में सूर्य की उपासना कर अपना कुष्ट रोग दूर किया था। तुलसी ने 'हनुमान बाहुक' की रचना 'बाहुपीड़ा' के निवारण के लिए की है।

5. काव्यंसद्यः परिनिर्वृतये

साहित्य से मानव हृदय का साधारणीकरण होता है। यही काव्य का मूल उद्देश्य है। काव्य के आस्वादन से जो रस रूपी आनंद मिलता है वही काव्य का लक्ष्य है।

6. काव्यं कान्ता सम्मित तयोपदेशयुजे

पत्नी के समान मधुर उपदेश देना भी काव्य का प्रयोजन है। कवि प्रत्यक्षतः तो उपदेश देता नहीं है किन्तु अप्रत्यक्ष मधुरवाणी में अपना सन्देश आप तक पहुंचाकर जीवन को सार्थक बनाने का उपदेश दे देता है। हिन्दी के कवि कबीर दास जी ने काव्य रूप का प्रयोजन प्रेम को माना है। सूफी कवि जायसी भी काव्य का प्रयोजन प्रेम को ही मानते हैं। गोस्वामी तुलसीदास ने काव्य का प्रयोजन लोकमंगल स्वीकार किया। यथा–

''कीरति भनिति भूति भल सोई, सुरसरि सम सबकह हितहोई।''

पाश्चात्य काव्य शास्त्रियों ने काव्य का प्रयोजन प्रीतिपूर्वक शिक्षा, अरस्तू ने काव्य का प्रयोजन आनंद प्रदान करना, रस्किन ने अधिक से अधिक जन समुदाय का कल्याण करना, शिलर के अनुसार काव्य का प्रयोजन आह्लाद है।

उपर्युक्त विवेचन करने के पश्चात यह कहा जा सकता है कि काव्य का प्रयोजन बहुत महान है। वह सन्मार्ग के साथ–साथ मानव हृदय का विस्तार भी करता है। ''तुलसी और कबीर ने सामाजिक क्रांति की ज्वाला प्रज्ज्वलित की थी तो

वाल्टेयर के निबन्धों में रूस की क्रांति का जन्म एवं इतिहास छिपा हुआ है।'' काव्य का प्रयोजन महान एवं व्यापक है।

NOTES

काव्य के प्रकार

भारतीय आचार्यों ने कई आधारों पर काव्य का विभाजन किया है। बाह्य प्रकार के आधार पर काव्य के दो भेद हैं। दृश्य काव्य और श्रव्य काव्य।

दृश्य काव्य

दृश्य काव्य उसे कहते हैं जिसका अभिनय किया जा सके अर्थात् जिसे देखकर सहृदय आनंद प्राप्त कर सके। दृश्य काव्य को रूपक भी कहा जाता है आचार्य विश्वनाथ के अनुसार ''दृश्यं तत्राभिनेयुं तद्रूपारो पातु रूपकम।'' रूप का आरोप होने के कारण इस दृश्य काव्य को रूपक कहा जाता है।

भारतीय काव्य शास्त्र में रूपकों का बड़ा विस्तार है। नाटक से रूपक व्यापक है और रूपक से व्यापक नाट्य। रूपक और उप–रूपक दोनों नाट्य के अंतर्गत हैं। रूपकों में दस की प्रधानता है और उप–रूपकों में भावों एवं नृत्य की मुख्यता रहती है। रूपक के दस भेद हैं– नाटक, प्रकरण, व्यायोग, भाण, समवकार, वीथी, प्रहसन, डिम, अंक, ईहामृग आदि। इनमें नाटक प्रमुख है।

दृश्य काव्य का एक अन्य रूप उपरूपक हैं। इसके आचार्य विश्वनाथ ने अट्ठारह भेद किए हैं। नाटिका, त्रोटक, गोष्ठी, सट्टक, नाट्य रासक, प्रस्थानक उल्लास काव्य, प्रेखण, रासप संलापक, श्रीगदित, शिल्पक विलासिका, प्रकरणी, माणिका, हल्लीश एवं दुमील्लिका आदि।

श्रव्य काव्य

श्रव्य काव्य वह काव्य है जिसका अभिनय नहीं किया जा सके। अर्थात् जिसे पढ़कर या सुनकर सहृदय आनंद प्राप्त कर सकें। आचार्य विश्वनाथ के अनुसार– ''श्रव्यंश्रोतव्य मात्रं तत्पद्य गद्यमयं द्विधा।'' अर्थात् जो केवल सुने जा सके, जिनका अभिनय न हो सके वे गद्य और पद्य दो प्रकार के श्रव्य काव्य है। गद्य काव्य के अन्तर्गत उपन्यास, कहानी और निबंध आदि आते हैं। पद्य काव्य के पुनः दो भेद है। प्रथम–प्रबंध काव्य और द्वितीय मुक्तक काव्य। प्रबंध काव्य के पुनः दो भेद हैं– महाकाव्य और खण्ड काव्य। मुक्तक काव्य के भी दो भेद हैं– पाठ्य और प्रगीत।

काव्य का गुण

काव्य शास्त्र में दोषों का अभाव और शोभा को बढ़ाने वाले धर्म को गुण कहा गया है। भरत मुनि के अनुसार– ''अत एवं विपर्यस्ता गुणाः काव्येषु कीर्तिताः'' भरत मुनि के गुणों की संख्या दस मानी है। आचार्य वामन के अनुसार ''काव्य शोभया

कर्तारो धर्माः गुणा'' आचार्य वामन ने गुण को रस का धर्म न मानकर रस को ही गुण अंग माना है। उनके अनुसार– ''गुण काव्य के नित्य धर्म है और अलंकार अनित्य धर्म'' वामन ने गुणों के दो भेद स्वीकार किए।

NOTES

आनंद वर्धन ने काव्य के प्रधानभूत रस के आश्रित तत्वों को गुण का नाम दिया। मम्मट ने गुणों को रस का सहायक धर्म माना है। उनके अनुसार शौर्यादि आत्मा के गुण होते हैं, शरीर के नहीं। उसी प्रकार गुण रस के धर्म हैं, वर्णों का नहीं।

विश्वनाथ आदि परवर्ती आचार्यों ने प्रायः इसी लक्षण को सराहा है। केवल पण्डित जगन्नाथ इसके अपवाद है– उन्होंने गुण को रस का धर्म न मानकर शब्दार्थ का ही धर्म माना है। आचार्य डॉ. नगेन्द्र के अनुसार– ''गुण काव्य के उन उत्कर्ष साधक तत्वों को कहते हैं जो मुख्य रूप से रस और गौण रूप से शब्दार्थ के नित्य धर्म हैं।''

उपर्युक्त परिभाषाओं के अनुसार गुण रस के साधक धर्म हैं, गुण नित्य धर्म है, गुण रस का उत्कर्ष करते हैं और गुण भावात्मक होते हैं। अतः गुण के स्वरूप को स्पष्ट करते हुए कहा जा सकता है कि मूल रूप से गुण रस के साथ सम्बद्ध होकर भी शब्दार्थ से दूर नहीं है।

गुणों का वर्गीकरण

कविता के विविध तत्वों के आधार पर ही गुणों का स्वरूप निर्धारित होता है। काव्य गुण के विषय में किसी निश्चित सीमा का निर्धारण रसाश्रित है। क्योंकि विशेष गुणों की अवस्थिति होती है और रसाभिव्यक्ति के लिए उसकी आवश्यकता मानी जाती है। वस्तुतः चित्त को तीन अवस्थाओं के आधार पर गुणों का वर्गीकरण किया जाता है जो निम्नांकित है–

1. माधुर्य गुण
2. ओज गुण
3. प्रसाद गुण

माधुर्य गुण

जिस रचना से अन्तःकरण आनंद से द्रवीभूत हो जाए उसे माधुर्य गुण कहते हैं। जैसे–

''कंकन किंकिन नुपूर धुनि सुनि।

कहत लखन सन राम हृदय गुनि।।

मानहु मदन दुन्दभी दीन्हीं।

मनसा विश्व विजय कह कीन्हीं।।''

NOTES

इन पंक्तियों में मधुर वर्ण, अनुस्वार युक्त वर्ण के प्रयोग से श्रृंगार की मधुर व्यंजना है।

ओज गुण

जिस काव्य रचना के सुनने से चित्त में आवेग उत्पन्न हो या मन में स्फूर्ति आ जाए उसे ओज गुण कहते हैं। इस गुण का प्रयोग वीर, रौद्र एवं वीभत्स रसों में होता है। जैसे–

''थर–थर कांपत कुतुबशाह गोल कुण्डां।

हहरि हवस भूप–भीरि भरकति है।।

राजा सिवराज के नागरन की धाक सुनि।

केते बादसाहन की छाती धरकति है।।''

प्रसाद गुण

जो गुण शुष्क ईंधन में अग्नि की भांति तथा स्वच्छ वस्त्र में जल की भांति तत्क्षण चित्त में व्याप्त हो जाए उसे प्रसाद गुण कहते हैं। इसके द्वारा चित्त का विकास होता है यथा–

''सिखा दो ना हे मधुप कुमारि, मुझे भी अपने मीठे गान।''

कुसुम के चुने कटोरों से करा दो ना कुछ–कुछ मधुपान।।

रस सिद्धांत, स्वरूप और निष्पत्ति

रस सिद्धांत के प्रमुख प्रवर्तक भरत मुनि हुए हैं। उन्होंने अपने नाट्यशास्त्र में एक सूत्र दिया है– ''विभावानुभावव्यभिचारि संयोगाद्रस निष्पत्ति'' अर्थात् विभाव, अनुभाव और व्यभिचारी के संयोग से रस की निष्पति होती है। आगे उन्होंने यह स्पष्ट नहीं किया कि संयोग से उनका क्या आशय है, उसका स्वरूप क्या होता है और किस प्रकार की प्रतिक्रिया होती है। फिर रस निष्पत्ति से क्या अभिप्राय है। हां, इतना उन्होंने अवश्य कहा है कि रस के अभाव में भावों का प्रवर्तन नहीं होता। भरत

मुनि के इस सूत्र को लेकर काफी वाद–विवाद हुआ और भिन्न–भिन्न प्रकार की व्याखाएँ करने का प्रयत्न किया गया।

NOTES

भरत सूत्र का पहला व्याख्याकार भट्ट लोल्लट है। इनका रस सम्बंधी सिद्धांत ''उत्पत्तिवाद के नाम से विख्यात हुआ आचार्य लोल्लट ने रससूत्र में आए'' निष्पत्ति शब्द का अर्थ उत्पत्ति बताया। उनका कहना था रस की उत्पत्ति काव्य में वर्णित दुष्यन्त, लक्ष्मण आदि पात्रों में होती है।

भरत सूत्र को दूसरे व्याख्याकार आचार्य शंकुक थे इन्होंने ''निष्पत्ति'' का अर्थ ''अनुमिति'' माना। इनके अनुसार अनुमान द्वारा हम अनुकरण को वास्तविक मान लेते हैं। यही काव्य के सम्बंध में भी घटता है। सयोग से इनका तात्पर्य 'अनुमान' है और निष्पत्ति का अर्थ 'अनुमिति' है।

भरत सूत्र के तीसरे व्याख्याकार भट्टनायक हैं और इनका सिद्धांत ''भोगवाद'' के नाम से प्रसिद्ध हुआ। इनका अभिप्राय रसनिष्पत्ति से भोग है। इनका कहना है– रस का उपयोग वास्तव में वह सहृदय करता है जो काव्य का श्रवण पाठन अथवा दर्शन करता है क्योंकि मूल मात्र में तो वह उस समय अनुपस्थित रहता है और अनुकर्त्ता का उद्देश्य केवल कला का प्रदर्शन करना होता है। क्योंकि काव्य का अध्येता जब भी काव्य का आस्वादन करता है तो उसका निजत्व खो जाता है और काव्य में वर्णित विषय या घटना से प्रभावित होकर उसका हृदय रस का भाग करने लगता है। इस प्रकार भट्टनायक ने संयोग का अर्थ ''भोज्य–भोजक'' संबंध से माना है।

भरत सूत्र के चौथे व्याख्याकार अभिनव गुप्त हैं। इनका सिद्धांत ''अभिव्यक्तिवाद'' के नाम से प्रसद्धि है। उन्होंने भट्ट नायक के ''भुक्तिवाद'' को स्वीकार करते हुए उसकी विशद व्याख्या प्रस्तुत की है। निष्पत्ति से उनका अर्थ है– ''अभिव्यक्ति'' उनका कहना है– प्रत्येक सहृदय में रति, हास, शोक, क्रोध आदि स्थायी भाव संस्कार जन्य होते हैं जो विविध कारणों से अव्यक्त रहते हैं। लेकिन विभाव अनुभाव और संचार भाव के सहयोग से वे अव्यक्त स्थायीभाव व्यक्त हो जाते हैं। उन्हीं का आनन्दानुभव 'रस' है। कालान्तर में अभिनवगुप्त के सिद्धांत 'अभिव्यक्ति वाद' को ही सबसे पुष्ट सिद्धांत के रूप में मान्यता मिली।

जीवन के सुव्यवस्थित निर्माण के लिए 'रस' अनिवार्य है। इससे रहित जीवन–जीवन ही नहीं रह जाता चाहे वह आध्यात्मिक जगह हो अथवा लौकिक जगत। जीवन की गति भी रस के कारण ही है। जिस प्रकार नाना पदार्थों से तैयार किए गए व्यंजन से रस प्राप्त होता है, उसी प्रकार अनेक प्रकार के भावों से रस की निष्पत्ति होती है।

'रस' शब्द रस + अच के योग से बना है। जिसका कोशगत अर्थ है सार। काव्य शास्त्रीय अर्थ में रस का प्रयोग उस आनन्द के अर्थ में होता है जो काव्य के श्रवण या नाट्य दर्शन से प्राप्त होता है। यह अनिवर्चनीय तथा लोकोत्तर आनन्द होता है। इसलिए रस की व्याख्या करते समय कहा गया है–

NOTES

''रसो वै सः वायं लब्धता नन्दी यवति।''

अर्थात् जिस प्रकार एक ब्रह्म योगी साधक को साधना के चरम बिन्दु पर पहुंचकर होने वाली आत्मानन्द अनुभूति अनिवर्चनीय एवं अलौकिक है उसी प्रकार काव्यास्वाद एवं काव्यानंद लोकोत्तर एवं गूंगे के गुड़ के समान केवल अनुभूति का विषय है।

इस प्रकार रस का स्वरूप और रस निष्पत्ति के संबंध में हम विभिन्न आचार्यें के सिद्धांतों का अध्ययन कर चुके हैं। अततः दशरूपकार धनंजय जी का यह कथन– कि विभाव, अनुभाव और व्यभिचारी भाव आदि स्थायी भावों के साथ मिलकर स्थायी भाव रस रूप में निष्पन्न होता है।

रस के अंग

संस्कृत काव्य के शास्त्र के इतिहास में रस आदि से अन्त तक किसी न किसी रूप में निरूपित होता रहा है। रस कैसे निष्पन्न या अनुभव होता है ? इस संबंध में भरत मुनि ने स्पष्ट बता दिया था कि विभाव, अनुभाव और संचारी भाव के संयोग से स्थायी भाव ही सहृदय के हृदय में रसानुभूति कराता है। रस के यही चारों अंग है।

1. स्थायी भाव

रस का आधार स्थायी भाव ही है। सहृदय के अन्तकरण में जो मनोविकार वासना रूप में सदैव विद्यमान रहते हैं और जिन्हें अन्य कोई भी भाव दबा नहीं सकता उन्हें स्थायी भाव कहते हैं। यही स्थायी भाव आस्वाद का मूलभूत है। स्थायी भावों की संख्या नौ है।

2. विभाव

विभाव का अर्थ है कारण। ये रस को व्यक्त करने का कारण है। लोक में जो पदार्थ सामाजिक के हृदय में वासना रूप में स्थिति रति, ह्रास उत्साह आदि भावों के उद्बोधक कारण है, उन्हें काव्य नाटकादि में वर्णित होने पर विभाव कहते हैं। वे विभाव आश्रय में भावों को जाग्रत करते हैं और उन्हें उद्दीप्त भी करते हैं। विभाव के दो भेद हैं – आलम्बन और उद्दीपन।

1. आलम्बन विभाव

काव्य नाटकादि में वर्णित जिन पात्रों का अवलम्बन लेकर सामाजिक के स्थायी भाव रस रूप में अभिव्यक्त होते हैं, उन्हें आलम्बन, विभाव कहते हैं। आलम्बन विभाव दो प्रकार के होते हैं। प्रथम–विषय और द्वितीय आश्रय।

NOTES

2. **उद्दीपन विभाव**

जिन वस्तुओं या स्थितियों को देखकर रति आदि स्थायी भाव तीव्र या उद्दीप्त होने लगते हैं उन्हें उद्दीपन विभाव कहते हैं।

3. अनुभाव स्थायी एवं संचारी भावों के उदय होने के पश्चात् जो शारीरिक एवं मानसिक विकार दिखाई देते हैं। उन्हें अनुभाव कहते हैं। अनुभाव के चार रूप है– आंगिक, वाचिक, आहार्य और सात्विक।

4. **संचारी भाव**

अस्थिर मनोविकारों अथवा अस्थिर चित वृत्तियों को संचारी भाव कहते हैं। संचारी भाव को व्याभिचारी भाव भी कहते हैं क्योंकि प्रत्येक भाव कई स्थायी भावों के साथ अभिमुख होकर उनका सहायक बनकर चलता है। कोई भी संचारी भाव किसी भी स्थायी भाव के साथ नियत रूप से नहीं रहता है।

साधारणीकरण

साधारणीकरण रस सिद्धांत का मूल आधार है। साधारणीकरण का अर्थ है– सामान्यीकरण अर्थात् जो साधारण नहीं है उसे साधारण कर देना। ''असाधारणस्य साधारीकरण इति साधारणीकरणम्'' जिस वस्तु का साधारणीकरण होता है वह वस्तु अपनी विशेषताओं को त्यागकर सामान्य रूप में प्रतिष्ठित हो जाती है।

साधारणीकर सिद्धांत के जन्मदाता आचार्य भट्टनायक है। वैसे साधारणीकरण के बीज भरत के 'नाट्यशास्त्र में मिल जाते हैं। किन्तु निश्चित उल्लेख भट्टनायक के उदाहरणों में ही पहली बार प्राप्त होता है।

भट्टनायक का मत

भट्टनायक विभावादि के पूर्ण साधारणीकरण के साथ स्थाई भावों में विशिष्ट सम्बन्धों से मुक्त होने को साधारणीकरण मानते हैं। गोविन्द ठाकुर ने 'काव्य प्रकाश' की टीका 'काव्य प्रदीप' में भट्ट नायक के मत को इस प्रकार व्यक्त किया है– ''भावकत्वम साधारीणकरणम् तेन ही व्यापारेण विभावदयः स्थाई च साधारणी क्रियन्ते।' साधारणीकरणं चैतदेव यत्सीतादिविशेषानां वाच्छित्वेन। इस वाक्य के अनुसार विभाव

अर्थात् आश्रय, आलम्बन और उद्दीपन अनुभाव स्थाई तथा संचारी भाव सभी का साधारणीकरण होता है।

NOTES

अभिनव गुप्त का मत

इन्होंने भट्टनायक के भावकत्व व्यापार को निराधार और अशास्त्रीय माना है तथा भावकत्व व्यापार की कल्पना को निराधार बताया है। उनके अनुसार व्यंजना शक्ति से ही भावकत्व और भोजकत्व का काम चल सकता है और व्यंजना द्वारा ही साधारणीकरण की शक्ति का आविर्भाव होता है। आगे उनका कहना था– 'जब आश्रय और आलम्बन दोनों ही देश–काल तथा ममत्व के बंधन से मुक्त हो जाएंगे तब उसका वैशिष्ट्य भी निश्चय ही देश–काल और व्यक्ति–संसर्ग से मुक्त होकर सामान्य बन जाएगा। उन्होने स्थाई भाव के साधारणीकरण पर विशेष बल दिया है। विभावादि का भी साधारणीकरण होता है किन्तु अधिक महत्वपूर्ण है स्थाई भाव का साधारणीकरण।

आचार्य विश्वनाथ का मत

आचार्य विश्वनाथ ने स्थायी भाव और विभावादि सभी का साधारणीकरण माना है किन्तु आपने आश्रय के साथ प्रमाता के अभेद या तादात्म्य को औरों की अपेक्षा अधिक महत्व दिया है। पंडित जगन्नाथ प्रत्यक्ष के साधारणीकर को नहीं मानते। वे इसके स्थान पर 'दोष कल्पना' की बात करते हैं। डॉ. नगेन्द्र ने रस के अंतर्गत पंडित जगन्नाथ के मत का विवेचन करते हुए लिखा है– पंडित राज भी आचार्य विश्वनाथ की भांति आश्रय के साथ प्रमाता के तादात्म्य की बात करते हैं। अन्तर केवल यह है कि विश्वनाथ के आश्रय हनुमान हैं और पंडितराज के आश्रय युष्यंत है।

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल की दृष्टि के अनुसार साधारणीकरण सबका नहीं हो सकता केवल आलम्बन का ही होता है। क्योंकि काव्य रचनाओं और रसास्वाद, दोनों की प्रक्रिया में वही मुख्य है। आलम्बन का अर्थ है– भाव का विषय। उसका साधारणीकरण इस प्रकार होता है कि पहले वह कवि के भाव का विषय बनता है और फिर समस्त सहृदय समाज के भाव का विषय बन जाता है। सहृदय की परिभाषा अभिनव गुप्त ने इस प्रकार की है– ''अधिकारी चात्र विमल प्रतिभाशाली सहृदय।''

उपर्युक्त विवेचन के पश्चात यह कहा जा सकता है कि नाट्य या काव्य के समस्त कार्य व्यापार का ही साधारणीकरण होता है, जो वर्तमान में कवि की सृष्टि है। मनोवैज्ञानिक दृष्टि से सहानुभूति के कारण भाषा की कल्पना प्रयोग के कारण साधारणीकरण को जन्म मिलता है और जब बात सभी सहृदय की अवधारणा की होगी तो नगेन्द्र जी का यह कथन पूर्णतः सही है– ''अब यदि आप पूछें एक व्यक्ति का भाव दूसरों के हृदयों में समान भाव कैसे उत्पन्न कर देता है तो इसका उत्तर

यही होगा कि मूलतः संपूर्ण मानवता एक चेतना से चैतन्य है। मानव–मानव के हृदय में चेतना का एक तार अनुस्यूत है। जो एक स्थान पर भी स्पर्श पाकर समग्रतः झंकृत हो जाते हैं। आपको चाहे इस कथन में रहस्यवाद की गंध आए परन्तु मनोविज्ञान, शरीर शास्त्र और अध्यात्म अभी इसके आगे नहीं बढ़ पाए हैं।''

NOTES

सहृदय की अवधारणा

सहृदय का अर्थ है समान हृदयवाला। कवि, कलाकार के हृदय में जो विशिष्ट भाव रहते हैं उनको वही अनुभव कर सकता है जो सहृदय हो अर्थात् अनुभूति सम्पन्न हृदय रखता हो। रचनाकार के हृदय में जो व्याकुलता होती है उसे जब वह आकार देता है तो वह कला कहलाती है। लेकिन इसके लिए कलाकार को साधना की आवश्यकता होती है कलाकार के चित में जिस प्रकार की व्याकुलता होगी उसी प्रकार की व्याकुलता कृति या रचना सहृदय के चित्र में उत्पन्न होगी उससे अधिक नहीं।

भारतीय आचार्यों के अनुसार जब तक कवि के चित में स्वयं रसानुभूति नहीं होती तब तक वह सहृदय को भी रस का बोध नहीं करवा सकता। रचनाकार अन्तरतम की रसानुभूति को रूप देता है और सहृदय उस रूप में बाह्य प्रत्यक्ष करके अर्न्तमुखी होता है। इस प्रकार सहृदय के रस बोध की प्रक्रिया कवि या कलाकार से ठीक विपरीत दिशा की ओर होती है।

काव्य के प्रसंग में रस लोकोत्तर अनुभूति है ऐसा भारतीय आचार्यों का कथन है। जिसका अर्थ है कि लोक में जो लौकिक अनुभूति होती है उससे भिन्न कोटि की यह अनुभूति है। राम और सीता जी का प्रेम प्रत्यक्ष जीवन में है वह लौकिक है किन्तु नाटक या काव्य के रसास्वादन में जो राम सीता हमारे चित में बनते हैं वे उससे भिन्न हैं।

वस्तुतः सहृदय के हृदय में संस्कार रूप से सूक्ष्मतया स्थित रति आदि स्थायी भाव होते हैं। जिनके हृदय में ये जितने जागरूक होंगे वे उतना ही अधिक रसास्वादन कर सकेंगे। आचार्यों ने सहृदय को 'सवासन'' कहा है। आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी के अनुसार– ''सहृदय पहले बाह्य रूप को प्रत्यक्ष करता है और फिर धीरे–धीरे सूक्ष्म से सूक्ष्मतर तत्व की ओर जाता है।''

अलंकार सिद्धांत मूल स्थापनाएं

NOTES

भारतीय काव्य शास्त्र के इतिहास में आचार्यों की एक ऐसी परम्परा मिलती है जो अलंकारों का काव्य में प्रमुख महत्त्व मानते थे। इन्होंने अलंकारों को काव्य सौन्दर्य का मूल कारण मानते हुए उसे काव्य का सर्वस्व घोषित किया है। भामह, उदभट, दण्डी, रूद्रट आदि अलंकारवादी आचार्यों की इस परम्परा के ही कारण अलंकार सिद्धांत एक सम्प्रदाय सिद्धांत माना गया। आचार्य भामह इस सम्प्रदाय के प्रमुख उन्नायक माने जाते हैं। इन्होंने सर्वप्रथम अपने ग्रन्थ ''काव्यालंकार'' की रचना कर 'अलंकार' को काव्य की आत्मा घोषित किया। अलंकार सम्प्रदाय की परम्परा में सर्व प्रथम नाम भरत मुनि का आता है। इन्होंने उपमा, रूपक, यमक और दीपक आदि चार अलंकारों का उल्लेख किया है। वस्तुतः भरत से काव्यशास्त्रीय अलंकारों का रूप उद्रभासित होता है। इन्होंने– ''शब्दार्थौ सहितों काव्यम् कहकर शब्दालंकार और अर्थालंकार के दो भेद किए थे। इनका परवर्ती अलंकारवादियों पर इतना व्यापक प्रभाव पड़ा कि उन्होंने काव्य वस्तु की सर्वथा उपेक्षा कर अलंकार को ही काव्य का सर्वस्व मानकर उसे काव्य की आत्मा घोषित कर दिया।''

भामह का अलंकार शास्त्र छः परिच्छेदों में विभक्त है। जिनमें क्रमशः काव्य शरीर, निर्णय, अलंकृति निर्णय, दोष निर्णय, न्याय निर्माण और शब्द शुद्धि पर विचार किया गया है भामह ने वक्रोति को ही समस्त अलंकारों का मूल मानते हुए उनकी संख्या 38 निर्धारित की है। इस प्रकार भामह ने काव्य का प्राणतत्व अलंकार बताते हुए अलंकार का प्राण तत्व 'वक्रोक्ति' को बताया है।

आचार्य दण्डी को अलंकार सम्प्रदाय का पोषक कहा जाता है इन्होंने अपने सूत्र ''काव्य शोभाकरान धर्मानलंकारान् प्रचक्षते।'' द्वारा अलंकारों को काव्य की शोभा बढ़ाने वाला धर्म कहा है। इन्होंने अलंकारों का वैज्ञानिक विवेचन करके उनकी संख्या 35 स्वीकार की है। आपने यमक, निबंध और प्रहेलिका आदि का विस्तृत विवेचन किया है तथा शब्दालंकार को विशेष महत्व दिया है। दण्डी ने भामह की वक्रोक्ति के स्थान पर 'अतिशय' को अलंकार की आत्मा स्वीकार किया है। वस्तुतः देखा जाए तो दोनों का तात्पर्य एक ही है। केवल शब्द भेद ही दिखाई देता है।

आचार्य उद्भट्

इन्होंने 'काव्यालंकार' सार संग्रह की रचना की। इनका समस्त विवेचन भामह का ही समर्थन करता है पर आपके द्वारा किया गया विवेचन सूक्ष्म और सटीक है। इन्होंने दृष्टान्त, काव्य लिंग और पुनरुक्ति वदा भास अलंकार की सर्वथा नई उद्भावना की तथा अनुप्रास के भेदों में बढ़ोत्तरी की। इस प्रकार इन्होंने भामह के 38 अलंकारों को बढ़ाकर 41 कर दिया।

आचार्य रूद्रट

इन्होंने 'काव्यालंकार सार' ग्रन्थ की रचना की तथा अलंकारों का अत्यंत व्यापक और उदार दृष्टि से निरूपण किया। डॉ. काणे के अनुसार– 'रुद्रट अलंकारों का वर्गीकरण वैज्ञानिक रूप से करने वाले प्रथम आचार्य है। इन्होंने सर्वाधिक अलंकारों की उद्‌भावना की तथा उन्हें चार वर्गों में विभक्त किया। इनका वर्गीकरण वास्तवोपम्य, अतिशय और श्लेष पर आधारित है।'

NOTES

मम्मट

ये समन्वय वादी विचारक एवं ध्वनिवादी आचार्य थे। इनकी रचना ''काव्य प्रकाश'' है। मम्मट ने अलंकारों को काव्य के लिए आवश्यक नहीं माना है। बल्कि उन्हें सहायक तत्वों के रूप में स्वीकार किया है। उनके अनुसार– ''अलंकार काव्य के अंग अर्थात शब्दार्थ रूपी शरीर की शोभा बढ़ाते हुए काव्य का उपकार करते हैं।'' अलंकार को आप काव्य का अस्थिर धर्म मानते हैं।

आचार्य वामन ने अलंकारों को काव्य के लिए महत्वपूर्ण माना है पर काव्य की आत्मा नहीं माना है। आचार्य विश्वनाथ ने 'साहित्यदर्पणकार' के दशक स्कन्ध में दो नवीन अलंकार निश्चय और अनुकूल की उद्‌भावना की है।

उपर्युक्त विवेचन के पश्चात यह कहा जा सकता है कि अलंकारों को सर्वस्व मानना उचित नहीं है। यह सच है कि काव्य में अलंकारों का महत्व किन्तु उसे सब कुछ प्रमाणित करने का प्रयास निरर्थक और बौद्धिक व्यायाम के अतिरिक्त कुछ नहीं है।

अलंकारों का वर्गीकरण

सर्वप्रथम रुद्रट ने अलंकारों के वर्गीकरण का प्रयास किया। लेकिन चार भागों में विभाजित उनके अलंकार यथा–औपम्य, अतिशय, वास्तव और श्लेष दूषित ही कहे गए। रुद्रट की अपेक्षा रूय्यक का वर्गीकरण अधिक व्यवस्थित है। विश्वनाथ और पण्डितराज तक आते–आते अलंकारों के वर्गीकरण में और व्यवस्था आई। शब्द चमत्कार और अर्थ चमत्कार के आधार पर अलंकारों के तीन भेद होते हैं – शब्दालंकार, अर्थालंकार और तीसरा उभयालंकार।

शब्दालंकार :

शब्दालंकार उन्हें कहते हैं जहां उक्ति चमत्कार, शब्द प्रयोग पर आधारित रहता है। शब्दालंकारों में शब्द प्रयोग का ही महत्व है। इसमें कवि या लेखक वर्णों और शब्दों की ऐसी योजना करता है कि सौन्दर्य या चमत्कार शब्दों में ही मुख्यतः रहता है, उनके अर्थों से या तो चमत्कार का विशेष सम्बन्ध नहीं होता या अर्थ चमत्कार भी विशिष्ट शब्द प्रयोग पर आधारित रहता है। प्रमुख शब्दालंकार है–

अनुप्रास, यमक, श्लेष, वक्रोक्ति, पुनरुक्ति वदाभास वीप्सा और ध्वनि चित्र या ध्वन्यार्थ व्यंजना।

NOTES

अर्थालंकार :

अर्थालंकार उन अलंकारों को कहते हैं जिनमें चमत्कार का सम्बन्ध शब्द या वाक्य के अर्थ से होता है, शब्द विशेष से नहीं है। जैसे 'मुख चन्द्रमा के समान सुंदर है।' इस कथन में उपमा अलंकार है। चमत्कार शब्दार्थ पर आधारित है विशेष शब्दों पर नहीं। अर्थालंकार का विभाजन निम्न छ' वर्गों में किया जा सकता है–

1. **सादृश्यमूलक या समानता मूलक अर्थालंकार**

   जिन अलंकारों के मूल में उपमेय या उपमान की समानता या सादृश्यता का भाव रहता है, उन अलंकारों को सादृश्यमूलक अलंकार कहते हैं। इन अलंकारों की संख्या सर्वाधिक है। उपमा, रूपक, उत्प्रेक्षा, अपह्नुति, सन्देह, भ्रम उल्लेख, व्यतिरेक अनन्वय, दृष्टान्त, उदाहरण, निदर्शना, अन्योक्ति, समासोक्ति, प्रतीप दीपक आदि अलंकार उपमेय–उपमान की सम्भावना पर आधारित है।

2. **विरोध मूलक अर्थालंकार**

   जिन अलंकारों में कवि या लेखक के कथन में परस्पर विरोध या असंगति का आभास होता है और विरोध का यह आभास अर्थ चमत्कार पीछा करता है उन्हें विरोध मूलक अलंकार कहते हैं।

3. **अतिशयोक्ति परक अर्थालंकार**

   जिन अलंकारों में किसी बात का बढ़ा–चढ़ाकर वर्णन किया जाता है वे अतिश्योक्ति परक अलंकार कहे जा सकते हैं।

4. **श्रृंखला मूलक अर्थालंकार**

   जिन अलंकारों में वस्तुओं का श्रृंखला रूप सिलसिलेवार पूर्वापर वर्णन होता है, और यह वर्णन चमत्कार का हेतु होता है वे अलंकार श्रृंखला मूलक अलंकार होता है। एकावली, सार आदि ऐसे ही अलंकार हैं।

5. **गुणमूलक अलंकार :**

   जिन अलंकारों में वस्तुओं का गुण अवगुण या विशेषता का भिन्न भिन्न वर्णन होता है उन्हें गुणमूलक अलंकार कहते हैं। तद्गुण, अनुज्ञा, तिरस्कार विनोक्ति परिसर आदि को इसी वर्ग में रखा गया है।

6. **व्यंग्यार्थमूलक अर्थालंकार**

जिन अलंकारों में वाच्य के स्थान पर व्यंग्यार्थ की प्रतीति का चमत्कार रहता है उन्हें व्यंग्यार्थ मूल अर्थालंकार कहते हैं। पर्यायोक्ति, व्यंग्योक्ति, ब्याज स्तुति आदि अलंकार इसी वर्ग के हैं।

NOTES

उभयालंकर :

जहां कवि की उक्ति में शब्दालंकार और अर्थालंकार दोनों इस प्रकार घुले मिले हो कि किसी एक को पृथक करना कठिन जाए वहां उभयालंकार की स्थिति होती है।

रीति सिद्धान्त स्थापनाएं एवं अवधारणा

भारतीय वाङ्मय के इतिहास में वामन की गणना शास्त्रकारों में उनका नाम प्रवर्तक आचार्यों में है। उनके गौरव का सबसे बड़ा प्रमाण यह है कि उनका रीति सिद्धांत एक स्फुट सिद्धांत न रहकर सम्प्रदाय बन गया।

भामह :

सर्वप्रथम रीति संबंधी आनुषंगिक विचार–विमर्श भामह के 'काव्यालंकार' में मिलता है। भामह ने वैदर्भी और गौड़ी को गौड़ महत्व दिया है। आपने इस प्रचलित धारणा का खण्डन किया कि वैदर्भी मार्ग श्रेष्ठ है। आचार्य दण्डी ने भी रीति के स्थान पर 'मार्ग शब्द' का प्रयोग किया और वैदर्भी को सर्वश्रेष्ठ माना है। इस प्रकार भरत की प्रवृत्ति बाण भट्ट की काव्य शैली और दण्डी के मार्ग द्वारा 'रीति' वामन से पूर्व ही सांगोपांग प्रतिष्ठिति हो चुकी थी। वामन ने इसे रीति का नाम देकर काव्य की आत्मा के रूप में प्रतिष्ठित किया है। वामन के पश्चात रीति काव्य के सर्वोच्च आसन पर आरूढ़ न रह सकी। परवर्ती आचार्यों ने उसका केवल काव्यांग के रूप में उल्लेख भर किया है।

रीति का अर्थ :

रीतिशब्द का सर्वप्रथम प्रयोग वामन ने किया है। रीति का व्युत्पत्तिपरक अर्थ है– गति, मार्ग और रूढ़ अर्थ है पद्धति विधि आदि। वामन से पूर्व दण्डी ने और उसके पश्चात, कुंतक ने रीति के लिए 'मार्ग' शब्द का प्रयोग किया है। वामन ने– 'काव्य शोभाकार व शब्द और अर्थ के धर्मों से युक्त पद–रचना को रीति कहा है।'

राजशेखर के अनुसार – 'वचन विन्यास क्रमो रीति' अर्थात् वचन विन्यास का क्रम रीति है। विश्वनाथ ने आनंद वर्धन से प्रेरणा लेकर रीति की परिभाषा देते हुए कहा है– 'पद संघटना रीति का रंग संस्थान विशेषवत् उपकर्त्री रसादि नाम अर्थात

NOTES

पदों की संघटना का नाम रीति है। वह अंग संस्थान की भांति है और काव्य के आत्म रूप रसादि का उत्कर्षवर्णन करती है।

डॉ. नगेन्द्र के अनुसार– 'रीति शब्द और अर्थ के आश्रित रचना चमत्कार का नाम है, जो माधुर्य, ओज तथा प्रसाद गुण के द्वारा चित्त को द्रवित, दीप्त एवं परिव्यात करती हुई रस दशा तक पहुंचाने में साधन रूप से सहायक होती है।'

वामन ने रीति शब्द का प्रयोग सम्भवतः सर्वप्रथम किया और रीति को काव्य की आत्मा घोषित किया वामन ने रीति तत्वों का विस्तृत विवेचन किया है। उन्होंने गुणों को रीति का प्राण माना है– 'विशेषोगुणात्माः'। रीति की परिभाषा उन्होंने दी– 'विशिष्ट पदरचना रीति' अर्थात् विशिष्ट पदरचना रीति है। पदरचना में विशिष्टता गुणों से उत्पन्न होती है। इस प्रकार वामन के अनुसार एक तरह गुण ही रीति की आत्मा हुए– विशेषोगुणात्मा' वामन ने गुणों को दो भेद किए– शब्द गुण और अर्थ गुण। अर्थ गुण को उन्होंने श्रेष्ठ माना क्योंकि उनके भीतर अलंकार, रसादि काव्य तत्वों को भी समाविष्ट किया जा सकता है। गुणों के आधार पर उन्होंने वैदर्भी, गौड़ीय और पांचाली तीन रीतियाँ निश्चित की और सर्वगुण सम्पन्न वैदर्भी को माना।

वामन का उपर्युक्त रीति सिद्धांत एक व्यापक काव्य सिद्धांत और काव्य–शैली का एक निर्भ्रान्त सर्वांगीण सिद्धांत नहीं बना सका। लेकिन फिर भी उनके रीति सिद्धांत का एक ऐतिहासिक महत्व है। क्योंकि वामन ने रीति को अर्थात् समग्र पद रचना को काव्य की आत्मा या प्रधान तत्व घोषित किया। यह वामन की महत्वपूर्ण मौलिक देन है कि उन्होंने शैली के एक प्रसाधन–अलंकार की अपेक्षा समग्र शैली रीति के महत्व की ओर काव्य शास्त्रियों का ध्यान आकर्षित किया। यद्यपि वामन के पश्चात् रीति काव्य के सर्वोच्च आसन पर आरूढ़ न रह सकी। परवर्ती आचार्यों ने उसका केवल काव्यांग के रूप में उल्लेख भर किया।

इस प्रकार वामन के लिए रीति के नियमन तथा नियामक हेतुओं की कल्पना निरर्थक थी क्योंकि वे रीति को काव्य को आत्मा मानते थे। उनके परवर्ती आचार्यों ने रीति को रसाश्रित माना। इससे रीति परतंत्र हो गई और उसका नियंत्रण अन्य तत्वों द्वारा होने लगा है। डॉ. नगेन्द्र के अनुसार– 'सुंदर शरीर रचना जिस प्रकार आत्मा का उत्कर्ष वर्धन करती है, उसी प्रकार रीति भी रस का उपकार करती है'।

आचार्य आनंद वर्धन ने भी रीति के मूल आंतरिक तत्व–प्रसाद, माधुर्य और ओज को माना है। समास को बाह्य तत्व। आगे उनका कथन है– 'अपने समस्त रूप में रीति रसाभिव्यक्ति की माध्यम है। मम्मट ने भी माधुर्य, ओज और प्रसाद गुणों को ही रीति का प्राण तत्व माना है और रीति को रसाभिव्यक्ति का साधन।

रीति और शैली :

रीति का जो विवेचन भारतीय काव्यशास्त्र में प्रस्तुत किया गया है। उसका अंतिम रूप यही है कि रचना, वर्ण–योजना, संघटना आदि का ही दूसरा नाम रीति है। उधर पाश्चात्य काव्य शास्त्र में शैली का जो विवेचन हुआ है वह रीति के ठीक अनुकूल तो नहीं है, परन्तु है उसके आसपास ही। रीति और शैली में बहुत अंतर नहीं है जैसे– शैली विचारों का परिधान है, तो अभिव्यक्ति की रीति का नाम शैली है। शैली ही व्यक्ति है।

NOTES

डॉ. नगेन्द्र के अनुसार– 'शैली में दो मूल तत्व कार्य करते हैं– एक व्यक्ति तत्व और दूसरा वस्तु तत्व'।

पाश्चात्य काव्य शास्त्रियों ने शैली के वस्तु तत्व का सम्यक् विवेचन किया है। व्यक्ति तत्व शैली का मुख्य तत्व है। जिसका पर्याप्त विवेचन भारतीय आचार्यों ने किया है। दण्डी और कुन्तक ने कवि–स्वभाव को रीति का मूल आधार माना है।

डॉ. सुनील कुमार डे ने रीति और शैली को पर्याय मानने में आपत्ति की है। उनके अनुसार रीति में व्यक्ति तत्व का अभाव है और व्यक्ति तत्व शैली का मूल आधार है। इस प्रकार दोनों को एक मानना भ्रांति है। वस्तुतः देखा जाए तो रीति और शैली में भेद हैं– जो इस प्रकार से हैं–

1. भारतीय आचार्यों ने माना है कि रीति में व्यक्तित्व की पूर्ण अस्वीकृति नहीं है।
2. रीति के कुछ भेद हो सकते हैं किन्तु शैली के नहीं।
3. रीति के लिए प्रयत्न आवश्यक है जबकि शैली सहज स्वाभाविक रूप को ही प्रकट करती है।
4. रीति परम्परा की द्योतक है और शैली स्वच्छन्दता की।

डॉ. विजय वेदालंकार के अनुसार– 'रीति अथवा शैली की अपनी महत्ता है। वस्तुतः काव्य को शास्त्र से पृथक करने वाला तत्व अनिवार्यता शैली ही है। काव्य में शैली तत्व की अनिवार्यता असंदिग्ध है और रीतिवाद ने उस पर बल न देकर काव्य शास्त्र का महान उपकार किया है।'

प्रथम इकाई के सम्भावित प्रश्न :

1. काव्य प्रयोजन से क्या तात्पर्य है ? भारतीय एवं पाश्चात्य विचारकों के मत की समीक्षा कीजिए।
2. काव्य के लक्षण क्या है ? स्पष्ट कीजिए।
3. काव्य के प्रकारों का वर्णन कीजिए।
4. रस निष्पत्ति सम्बन्धी प्रमुख मतों का विश्लेषण कीजिए।

NOTES

5. साधारणीकरण क्या है ? इस सन्दर्भ में भट्ट नायक और अभिनव गुप्त के मत को स्पष्ट कीजिए।

6. अलंकार क्या है ? अलंकार सिद्धांत की समीक्षा कीजिए।

7. 'काव्य की आत्मा रीति है।' इस कथन के सन्दर्भ में आचार्य वामन के मन्तव्य का उल्लेख कीजिए।

8. रीति और शैली में क्या अंतर है ?

9. प्राचीन और आधुनिक मान्यताओं के आधार पर अलंकार सिद्धांत की आलोचना कीजिए।

10. काव्य के गुण क्या है ? उनके प्रकारों का उल्लेख कीजिए।

————

इकाई – 2

वक्रोति सिद्धांत एवं अवधारणा

NOTES

''वक्रोति जीवितम्'' नामक ग्रन्थ के रचयिता कुन्तक को वक्रोति का वास्तविक प्रवर्तक माना जाता है। इनसे पूर्व भी विद्वान ''वक्रोति सिद्धांत'' पर अपना अभिमत व्यक्त कर चुके हैं किन्तु इसे काव्य का मूलाधार आचार्य कुन्तक ने ही घोषित किया था। कुन्तक का समय 10वीं सदी था किन्तु 400 वर्ष पूर्व भामह ने वक्रोति का प्रयोग कुन्तक के समान ही, व्यापक रूप में कर उसे मूल अलंकार मान, सम्पूर्ण अलंकारों की जननी घोषित किया था।

आचार्य भामह :

इनके अनुसार – ''वक्रोक्ति रहित काव्य, काव्य न रहकर वार्ता मात्र रह जाता है। ''आपने वक्रोति को अतिशयोक्ति का पर्याय मानकर, अतिशयोक्ति (वक्रोति) को समस्त अलंकारों की जननी माना है।

आचार्य दण्डी :

आचार्य दण्डी ने भी वक्रोति को वही स्थान दिया है जो भामह ने दिया था। (काव्यादर्श) में आपने वक्रोति का विशद विवेचन किया है। इनके अनुसार वक्रोति काव्य की आत्मा है। वक्रोति को स्वाभावोक्ति से विपरीत बताते हुए क्रमशः ''श्लेष–पोषित'' और सभी अलंकारों का मूल माना है। यथा–

''श्लेषः सर्वषु पुष्णात प्रायो वक्रोत्तिषु श्रियम''

आचार्य वामन :

वामन ने वक्रोति की धारणा को भामह और दण्डी के विरुद्ध एक नया मोड़ देना चाहा है। उनके अनुसार वक्रोति का लक्षण है– ''सादृश्याल्लक्षणा वक्रोति'' अर्थात लक्षण के बहुत से निबंध होते हैं जिसमें सादृश्य निबंधना लक्षणा ही वक्रोति है। इस प्रकार वामन ने सीमित अर्थ में वक्रोति को एक अलंकार माना है।

रूद्रर :

ये वामन के समकालीन थे इनके समय तक आते आते वक्रोति केवल अलंकार रह गई। इन्होंने वक्रोति को वाक्बल पर आश्रित शब्दालंकार माना। भामह से रूद्रट तक वक्रोति का निरंतर ह्रास होता रहा है।

NOTES

आचार्य भोजराज :

सरस्वती कंठाभरण में भोजराज ने वक्रोति रसोक्ति को महत्व देकर पुनः रस की प्रतिष्ठा करने का प्रयास किया। यथा– ''वक्रोक्तिश्च रसोक्तिश्च, स्वाभावोंक्तिश्च वाङम।''

आनन्द वर्धन :

ध्वनि सम्प्रदाय के अधिष्ठाता आनन्द वर्धन वक्रोति को उसकी सीमित कारा से मुक्त कर पुनः स्पष्ट महत्व प्रदान किया। आपने इसे एक विशिष्ट अलंकार मानकर इसके सामान्य तथा व्यापक रूप को स्वीकार किया। आगे आपने कहा–वक्रोति के द्वारा अर्थ में एक अद्‌भुत चमक उत्पन्न हो उठती है इसलिए कवियों को इसमें विशेष प्रयत्न करना चाहिए। आनंद वर्धन ने भी भामह के अनुसार अतिशयोक्ति और वक्रोति को पर्याय माना। इस प्रकार आनंद वर्धन ने वक्रोक्ति का पुनरुद्धार कर उसे गौरव प्रदान किया।

कुन्तक समस्त वक्रोति :

कुन्तक ने वक्रोक्ति का मौलिक आख्यान करते हुए उसे काव्य के आधारभूत एवं सर्वग्राही रूप में प्रतिष्ठित किया। वक्रोक्ति सम्प्रदाय के प्रवर्तक आचार्य कुन्तक ही हैं। इन्होंने वक्रोक्ति को काव्य की आत्मा घोषित किया है। आप समस्त काव्यांगों में वक्रोति को प्रधान तथा उपजीव्य मानते हैं। वक्तिति के अर्थ निरूपण के संदर्भ में कुन्तक का कथन है– प्रसिद्ध अर्थ का निरूपण करने वाली विचित्र अभिधा है। कुन्तक ने इसका संकेत अपने काव्य लक्षण में इस प्रकार दिया है –

''शब्दार्थौ सहितौ वक्रकवि व्यापार शालिनी।
बन्धे व्यस्थितों काव्यं तद्विदाह्लाद कारिणी।''

अर्थात वक्र कवि व्यापार से मुक्त एवं सहृदयों को आह्लाद प्रदान करने वाले रचना बन्ध में सुनियोजित एवं परस्पर सहकारी शब्दार्थ का नाम ही काव्य है। कुन्तक ने यह स्पष्ट रूप में कहा है – वक्रोति शब्दार्थ रूप में अलंकार है।

वक्रोति की परिभाषा और स्वरूप :

वक्रोति सिद्धांत काव्यशास्त्र का प्रौढ़ चिन्तन है जिसके प्रणेता आचार्य कुन्तक है। इन्होंने वक्रोति परिभाषा इस प्रकार से दी है –

''वक्रोक्तिः प्रसिद्धमिधान व्यक्तिरेकिणी विचित्रैवामिधा
की दृशी वैदध्य भंगी भणितिः वैदध्यं विदग्ध भावः
कवि–कर्म कौशलं, तस्य भंगी विच्छितिः तथा भणितिः।
विचित्रैवामिधा वक्रोक्तिरित्युच्यते।''

अर्थात प्रसिद्ध कथन से भिन्न विचित्र अमिधा अर्थात वर्ण शैली ही वक्रोति है। यह कैसी है ? वैदग्ध्य पूर्ण शैली द्वारा उचित ही वक्रोति है। वैदग्ध्य का अर्थ है विदग्धा– कवि धर्म कौशल, उसकी भंगिमा या शोभा उसके द्वारा (उस पर आश्रित) उक्ति। इस प्रकार आपने विचित्र अमिधा का नाम वक्रोति माना है।

NOTES

इस परिभाषा के अनुसार वक्रोति का अर्थ है वक्र या विचित्र उक्ति। आचार्य कुन्तक ने वक्रोति में तीन तत्वों की उपस्थिति आवश्यक मानी है– प्रथम कुशल कवि व्यापार, चमत्कार या चारुता और कवि कथन या उक्ति। एक अन्य तत्व भी कुन्तक ने आवश्यक माना है – सहृदयों को आच्छादित करने की क्षमता।

डॉ. नगेन्द्र ने कुन्तक की वक्रोति विषयक मान्यता को इस प्रकार व्यक्त किया है– वक्रोति उस युक्ति अथवा कथन शैली का नाम है जो लोक व्यवहार तथा शास्त्र में प्रयुक्त शब्द अर्थ के उपनिबंध से भिन्न, कवि प्रतिभाजन्य चमत्कार के कारण सहृदय आह्लादकारी होती है।

जिस प्रकार ''शरीर की शोभा प्राण पर निर्भर होती है उसी प्रकार शब्द अर्थ समन्वित काव्य की शोभा उसकी वक्रोति रूपी आत्मा पर निर्भर करती है। अतः वक्रोति केवल वाक–चातुर्य अथवा चमत्कार नहीं अपितु कवि व्यापार या कवि कौशल के रूप में स्वीकार किया गया एक नवीन सिद्धान्त है।''

वक्रोति के भेद :

आचार्य कुन्तक ने वक्रोति के छः भेद किए हैं जो विस्तार क्रम से वैज्ञानिक पद्धति पर किए गए है। काव्य के सबसे छोटे अवयव वर्ण से लेकर सबसे बड़ा रूप महाकाव्य तक क्रमशः विकसित होते जाते हैं– यथा –

(1) वर्ण विन्यास वक्रता –

आचार्य कुन्तक के शब्दों में, जिसमें एक या दो या बहुत से वर्ण थोड़े–थोड़े अन्तर मे बार–बार रचित हो, वह वर्ण विन्यास वक्रता अथवा वर्ण रचना की वक्रता कही जाती है। यह वर्ण शब्द व्यंजन का पर्याय है। इसी को अलंकार सम्प्रदाय में अनुप्रास का नाम दिया गया है। कुन्तक ने इसके तीन भेद किए हैं –

1. वर्णान्त से युक्त स्पर्श अर्थात् ''क'' से ''म'' तक व्यंजनों का योग।
2. तलणाद्रय अर्थात त, न, न र्वा की द्वित आवृति हो।
3. इन दोनों से युक्त तीसरा भेद यह है कि जहां ''र'' का बार–बार प्रयोग हो। वस्तुतः इस सम्प्रदाय में रीति, गुण, माधुर्य, ओज, प्रसाद के समन्वय किए गए हैं– यथा–

NOTES

''तुम तुंग हिमालय श्रृंग,

और में चंचल गति सुर सरिता।

तुम विमल हृदय उच्छ्वास

मैं कांत कामिनी कविता।''

(2) पद पूर्वार्द्ध वक्रता :

जहां शब्द की प्रकृति में चमत्कारपूर्ण परिवर्तन किया जाए वहाँ पद पूर्वार्द्ध वक्रता होती है इसके 10 प्रकार माने गए हैं –

1. रूढ़ि वैचित्र्य वक्रता, 2. पर्याय वक्रता, 3. उपचार वक्रता, 4. विश्लेषण वक्रता, 5. संवृत्तिवक्रता, 6. वृत्ति वक्रता, 7. लिंग वैचित्र्य वक्रता, 8. क्रिया वैचित्र्य वक्रता, 9. भाव वैचित्र्य वक्रता, 10. प्रत्यय वक्रता।

(3) पद उत्तरार्द्ध वक्रता :

पद के उत्तरार्द्ध में प्रत्यय द्वारा वक्रता प्रकट करने पर यह वक्रोति बनती है। इसके छः भेद हैं। 1. काल वैचित्र्य वक्रता, 2. कार वक्रता, 3. संख्या वक्रता, 4. पुरूष वक्रता, 5. उपग्रह वक्रता, 6. प्रत्यय वक्रता।

(4) वाक्य वक्रता :

इसमें वक्रता का आधार पूरा वाक्य होता है। इसके अन्तर्गत रस और वस्तु के साथ–साथ अलंकारों को भी सम्मिलित कर लिया है। इसके दो भेद हैं– 1. स्वभावोक्ति और अर्थालंकार।

(5) प्रकरण वक्रता :

अनेक वाक्यों के समूह या प्रबंध के देश या अंश या सर्ग को प्रकरण कहते हैं। दूसरे शब्दों ''सृजन के उत्साह से प्रेरित होकर कवि अपने वस्तु वर्णन में जो अपूर्व उत्कर्ष उत्पन्न करता है, वह प्रकरण वक्रता है।'' आचार्य कुन्तक ने प्रकरण वक्रता के छः उपभेद किए हैं– 1. भावपूर्ण स्थिति की उद्भावना, 2. प्रसंग की मौलिकता, 3. पूर्व प्रचलित प्रसंग में मौलिकता, 4. रोचक प्रसंगों का विस्तृत वर्णन, 5. प्रधान उद्देश्य की सिद्धि के लिए उप प्रधान प्रसंग की उद्भावना, 6. विशिष्ट प्रकरण की अतिरंजना।

(6) प्रबंध वक्रता :

कुन्तक ने वक्रोति के इस भेद को अधिक व्यापक माना है। इसकी परिधि में समग्र प्रबंध काव्य, महाकाव्य, नाटक आदि का वस्तु कौशल अन्तनिर्हित है। इसका आधार सबसे अधिक व्यापक है।

NOTES

इसके अंतर्गत कवि मूल कथानक के अंगीभूत को नवीन ढंग से बदलकर चमत्कारी रूप में प्रस्तुत करता है। इससे नवीनता और सरलता दोनों की अभिवृद्धि होती है। अन्य आचार्यों की तरह कुंतक भी प्रबंध काव्य को काव्य का श्रेष्ठ रूप स्वीकार करते हैं। उनके अनुसार प्रबंध काव्य का सौन्दर्य इतिवृत्त पर आश्रित न होकर कवि की संयोजक कल्पना या प्रसंग विधान, कौशल पर निर्भर रहता है। कुन्तक ने प्रबंध वक्रता के छः भेद किए हैं– 1. मूल रस परिवर्तन, 2. नायक के चरित्र में संशोधन, 3. कथा मध्य अन्य कार्य द्वारा प्रधान कार्य की सिद्धि, 4. नायक द्वारा अनेक फलों की प्राप्ति, 5. प्रधान कथा का द्योतक नाम, 6. मूलकथा पर आश्रित प्रबंधों का वैचित्र्य वैविध्य।

वक्रोति सिद्धांत की अवधारणा और उसके भेदों का वर्णन करने के पश्चात यह कहा जा सकता है कि वक्रोति एक व्यापक काव्य सिद्धांत है इसके अंतर्गत कुन्तक ने एक ओर वर्ण चमत्कार, शब्द सौन्दर्य, अप्रस्तुत विधान, प्रबंध कल्पना आदि समस्त काव्यांगों का और दूसरी तरफ अलंकार, रीति, ध्वनि और रस आदि सभी काव्य सिद्धांतों का समाहार करने का प्रयास किया है। काव्य सौन्दर्य के समस्त रूप, सूक्ष्म से सूक्ष्म वर्ण चमत्कार और व्यापक रूप प्रबंध कौशल तक सभी वक्रता के प्रकार हैं। अलंकार रीति आदि वक्रता के पोषक तत्व हैं। अतः वक्रोति का प्रथम गुण उसकी व्यापकता है।

(7) वक्रोति और अभिव्यंजनावाद :

कुन्तक की वक्रोति भारतीय काव्य शास्त्र परंपरा का वह चमत्कारिक सिद्धांत है, जिसमें कर्ता या कृति पर विशेष दृष्टि रखकर काव्य के समस्त उपादानों का विवेचन किया जाता है। अभिव्यंजनावाद यूरोपीय सौन्दर्य शास्त्र का महत्वपूर्ण कलात्मक पक्ष है, इसके प्रवर्तक आचार्य क्रोंचे ने कला को वस्तु जगत से हटाकर सर्वथा मानस व्यापार में पर्यवसित कर दिया तथा उसे केवल अभिव्यंजना माना, परन्तु वक्रोतिवादी आचार्य कुन्तक उस कृति को काव्य की संज्ञा देने में भी संकोच करते हैं, जिसमें अभिव्यंजना ही सब कुछ न हो। इन्हीं बातों को लेकर विद्वानों ने वक्रोति एवं अभिव्यंजनावाद में समानताओं और असमानताओं का विवेचन किया। सर्वप्रथम आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने अपने इन्दौर में दिए गए भाषण में क्रोंचे के मत की समीक्षा करते हुए उनके अभिव्यंजनावाद को भारतीय वक्रोक्तिवाद का विलायती उत्थान

NOTES

कहा। शुक्ल जी के इस कथन की बड़ी तीव्र प्रतिक्रिया हुई और फिर कुन्तक तथा क्रोंचे के साम्य वैषम्य की परीक्षा प्रारंभ हो गई। डॉ. लक्ष्मीनारायण सुधांशु ने ''काव्य में अभिव्यंजनावाद'' नामक ग्रन्थ में, तत्पश्चात, रामनरेश शर्मा ने ''वक्रोति और अभिव्यंजना'' शीर्षक से दोनों मतों का विश्लेषण करने के पश्चात यह स्पष्ट किया कि दोनों मतों में समता कम विषमता अधिक है। डॉ. नगेन्द्र ने ''हिन्दी वक्रोति जीवित'' की टीका की भूमिका में इस मत की समीक्षा की है।

उपर्युक्त मतों के आधार पर कुन्तक और क्रोंचे की समानताओं और विषमताओं को इस प्रकार रेखांकित किया जा सकता है —

1. क्रोंचे और कुन्तक दोनों ने ही कला या कविता को आत्मा की क्रिया माना है, जो अनिर्वचनीय है।
2. दोनों ही काव्य में कल्पना तत्व की प्रमुखता को स्वीकार करते हैं।
3. दोनों की मूलतः उक्ति को अखंड, अविभाज्य और अद्वितीय मानते हैं। क्रोंचे की तरह कुन्तक ने भी अलंकार और अलंकार्य का भेद नहीं माना है।
4. क्रोंचे ने सौन्दर्य अथवा कला के अन्तर्गत कोटि क्रम को स्वीकार नहीं किया है। कुन्तक ने भी कोटि क्रम की उपेक्षा करते हुए रीतियों के उत्तम, मध्यम व अधम भेद को नहीं माना है।

असमानताएं :

डॉ. नगेन्द्र ने अपने विवेक से जहां इनमें समानताएँ देखी हैं वहीं कुछ असमानताएं भी देखी है। डॉ. गोविन्द त्रिगुणायत ने अपने कृति शास्त्रीय समीक्षा के सिद्धांत, में दोनों ही सिद्धांतों में असमानताएँ स्पष्ट की है। आचार्य सीताराम चतुर्वेदी भी वक्रोक्ति और अभिव्यंजना में किसी प्रकार का सीधा संबंध स्वीकार नहीं करते। डॉ. नगेन्द्र ने समस्त विद्वानों की विषमताओं का सूक्ष्म विवेचन करने के बाद निम्नांकित तर्क प्रस्तुत किए हैं —

1. वक्रोक्तिवाद का संबंध उक्ति वक्रता से है, जबकि अभिव्यंजनावाद का संबंध केवल उक्ति से है।
2. वक्रोक्तिवाद साहित्यिकवाद है, जबकि अभिव्यंजनावाद एक दर्शन शास्त्रीय दृष्टि है।
3. वक्रोक्तिवाद एक कवि कौशल प्रक्रिया है और अभिव्यंजनावाद एक सहजानुभूति है।

4. वक्रोक्ति में अलंकार मान्य है, अभिव्यंजनावाद में उसकी सत्ता अमान्य है। अभिव्यंजनावाद में यदि अलंकार आ जाता है तो उसे अलंकार के रूप में स्वीकार न करके स्वभावोक्ति के रूप में ग्रहण किया जाता है।

5. वक्रोक्तिवाद मूर्त रूपों पर केन्द्रीत है जबकि अभिव्यंजनावाद सूक्ष्म आध्यात्मिक क्रिया पर आधारित है।

6. वक्रोक्तिवाद में वस्तु की सत्ता उक्ति से अलग है, अभिव्यंजनावाद में दोनों अभिन्न है।

7. वक्रोतिवाद में बाह्य अभिव्यक्ति को ही प्रमुख माना गया है जबकि क्रोंचे ने बाह्य अभिव्यक्ति को गौड़ माना है।

NOTES

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि अपने मूल स्वरूप में वक्रोक्तिवाद और अभिव्यंजनावाद दो पृथक् सिद्धांत हैं। कुन्तक उक्ति वैचित्र्य पर बल देते हैं, क्रोंचे मात्र उक्ति पर। क्रोंचे का अभिव्यंजनावाद सहजानुभूतियों पर आधारित है। रस से उसका संबंध अंतरंग और सात्विक है किन्तु वक्रोति कवि कौशल पर आधारित है। इस प्रकार स्पष्ट है कि वक्रोति और अभिव्यंजनावाद के मूलभूत स्वरूपगत और सैद्धान्तिक रूप में कोई समानता नहीं है।

ध्वनि सिद्धांत एवं उसकी प्रमुख स्थापनाएँ :

काव्य सिद्धांत के रूप में ध्वनि शब्द का सर्वप्रथम प्रयोग ध्वन्यालोक में किया गया है–

यत्रार्थः शब्दो वा तमर्थयुपः उप सर्जनी कृत स्वार्थौ

व्यंक्तः काव्य विशेषः स ध्वनिरिति सूरिभिः कथितः।''

''विद्वान उस काव्य को ध्वनि कहते हैं जिसमें शब्द और अर्थ अपने को अप्रधान बनाकर व्यंग्यार्थ की अभिव्यक्त करते है।'' किन्तु प्रत्येक व्यंगार्थ को काव्य नहीं कहा जा सकता क्योंकि चमत्कार व्यंग्य ही काव्य के रूप में समादृत हो सकता है।

ध्वनि सिद्धांत के प्रतिष्ठाता आचार्य आनंद वर्धन माने जाते हैं। आपने 1875 ई. के आस पास अपने प्रसिद्ध ग्रंथ ''ध्वन्यालोक'' के द्वारा इस काव्य सम्प्रदाय की स्थापना कर ध्वनि को काव्य की आत्मा घोषित किया। आनंद वर्धन के ''ध्वन्यालोक'' से पूर्व ध्वनि सम्प्रदाय के अस्तित्व का कोई निश्चित प्रमाण अभी तक नहीं मिला है। किन्तु ''ध्वन्यालोक'' में ध्वनि सम्प्रदाय की जैसी विशद और पूर्ण विवेचना की गई है उसे देखते हुए ऐसा लगता है कि इसकी कोई पूर्ववर्ती परम्परा अवश्य रही होगी। तभी तो आनंद वर्धन ने ''ध्वन्यालोक'' की पहली कारिका में कहा है–

''काव्यस्यात्मा ध्वनिरिति बुधैर्यः संभाम्नात पूर्व।''

NOTES

अर्थात काव्य की आत्मा ध्वनि है जिसे बुद्धिमान लोग पहले से कहते आए हैं। वस्तुतः देखा जाए तो ''ध्वन्यालोक'' ही ध्वनि सम्प्रदाय का जनक है। ध्वनिकार से पूर्व भामह, दण्डी और उद्भट आदि अलंकारवादी आचार्यों के ग्रन्थों में यद्यपि ध्वनि शब्द का प्रयोग नहीं हुआ फिर भी अनेक अलंकारों के लक्षणों और उदाहरणों से स्पष्टतः अथवा प्रकारान्तर से तत्व के संकेत मिल जाते हैं।

सर्वप्रथम ध्वनि संकेत वामन के ''वक्रोति विवेचन'' में मिलता है – ''सादृश्याल्लक्षणा वक्रोतिः'' लक्षण में जहां सादृश्यगर्भित होते हैं वहां यह वक्रोति कहलाती है। ध्वनिकार ने लक्षणा शब्द शक्ति को स्वीकार करते हुए भी ध्वनि को इससे पृथक् माना है, क्योंकि लक्षणा में ध्वनि (व्यंजना) को अन्तर्भूत नहीं किया जा सकता। इस प्रकार उन्होंने शब्द की तीसरी शक्ति व्यंजना पर आश्रित ध्वनि को काव्य की आत्मा घोषित किया। उनके सामने दो लक्ष्य थे।

(क) ध्वनि सिद्धांत की निभ्रन्ति शब्दों में स्थापना करना तथा यह सिद्ध करना कि पूर्ववर्ती किसी भी सिद्धांत के अंतर्गत इसका समाहार नहीं हो सकता।

(ख) रस, अलंकार, रीति, गुण और दोष विषयक सिद्धांतों का सम्यक परीक्षण करते हुए ध्वनि के साथ उनका संबंध स्थापित करना। वस्तुतः देखा जाए तो ध्वनिकार दोनों लक्षणों में काफी सफल रहे।

ध्वनि सिद्धांत वैयाकरणों के स्फोटवाद सिद्धांत पर आधारित है। स्फोटवाद सिद्धांत के अनुसार शब्द के दो रूप होते हैं। ''शब्द का स्थूल उच्चरित रूप उच्चारण भेद के अनुसार बदलता रहता है। यह शब्द का विकृत रूप माना जाता है और उसे अनित्य माना गया है। इसके अतिरिक्त शब्द का सूक्ष्म प्रतिरूप भी होता है। जो मानव मन में विद्यमान रहता है वह नित्य और अविभाज्य है। इसी सूक्ष्म एवं नित्य ध्वनि बिम्ब को शब्द के स्फोट की संज्ञा दी गई है।''

अभिनव गुप्त ने ''ध्वन्यालोक'' की लोचन नाम्नी व्याख्या में ध्वनि संबंधी समस्त भ्रान्तियों का निराकरण किया है। उन्होंने रस और ध्वनि के पारस्परिक संबंध की चर्चा करते हुए रस के कारण ही ध्वनि को महत्व दिया और यह भी कहा कि व्यंजना व्यापार के द्वारा ही रस की सिद्धि संभव है। उनके अनुसार रस का बोध व्यंग्य द्वारा होता है और रस का रहस्योदघाटन व्यंजनावृत्ति के द्वारा ही हो सकता है। अभिनव गुप्त रसात्मक सौंदर्य से युक्त ध्वनि को ही काव्य मानने के पक्ष में अपना मत व्यक्त करते हैं और केवल ध्वनि में काव्य सौंदर्य स्वीकार्य नहीं करते। उनके अनुसार वस्तु तथा अलंकार ध्वनियों में अंततः रस की ही प्रतीति होती है। ये ध्वनि को काव्य की आत्मा मानकर उसे काव्य का सर्वस्व स्वीकार नहीं करते। उनके

अनुसार काव्य में ''शब्दार्थ गुणालंकार संयुक्त रसात्मकता'' की चारुता का होना अत्यंत आवश्यक है।

NOTES

भोजराज ने श्रृंगार प्रकाश में ध्वनि का विवेचन किया है। आपने तात्पर्य शक्ति को ध्वनि से अभिन्न मानकर, इसके अंतर्गत ही ध्वनि का विवेचन किया है।

ध्वनि सिद्धांत को व्यवस्थित करने का श्रेय आचार्य मम्मट को है। इन्होंने ध्वनि की प्रधानता के आधार पर काव्य का वर्गीकरण किया है। इनके अनुसार जहां वाच्यार्थ की अपेक्षा व्यंग्यार्थ में चमत्कार हो, वही उत्तम ध्वनि काव्य होता है। माध्यम काव्य में व्यंग्यार्थ या तो वाच्यार्थ के समान चारु होता है या वाच्यार्थ से कम चमत्कार होता है। अधम काव्य में व्यंग्यार्थ का नितांत अभाव रहता है और उसमें शब्द एवं अर्थगत चारुता रहती है।

अलंकार शास्त्रियों ने स्फोटवाद के आधार पर ध्वनि सिद्धांत की स्थापना की है। उनका कहना है– काव्य का ज्ञान व्यंजना शक्ति ही करा सकती है अतः व्यंजना का ध्वनि से अटूट संबंध है। व्यंजना काव्य में निहित जिस प्रच्छन अर्थ का बोध कराती है वस्तुतः उसी अर्थ में काव्य का संपूर्ण निहित होता है। आप सभी ने व्यंजना शब्द शक्ति को ध्वनि सिद्धांत का आधार माना है।

हिन्दी के आचार्यों ने भी ध्वनि की महत्ता को स्वीकार किया है। कुलपति मिश्र ने अपने ''रस रहस्य'' में ''काव्य प्रकाश'' के आधार पर ध्वनि को काव्य की आत्मा मानते हुए लिखा है –

''व्यंग्य चीव ताको कहत, सबद अरथ हैं देह।

गुन गुन भूषन भूपनै, दूषन भूषन ऐह।।''

भिखारीदास ने ''काव्य निर्णय'' में ध्वनि का विवेचन इस प्रकार से किया है –

'वाच्य अरथ ते व्यंग्य में चमत्कार अधिकार,

धुनि ताही को कहत हैं, उत्तम काव्य विचार''

ध्वनि–सम्प्रदाय का उदय भारतीय काव्य शास्त्र के इतिहास में युगांतरकारी है। ध्वनि आचार्य अलंकार, रस तथा वक्रोति आदि काव्य के पूर्ण तत्वों का सामंजस्य ध्वनि के साथ कर लेते हैं। रस संप्रदाय के अधिष्ठाता आनंद वर्धन एवं पोषक अभिनव गुप्त तथा उसमें प्राणाधान करने वाले आचार्य मम्मट हैं।

वाच्यार्थ की अपेक्षा का अन्य अर्थ हृद्याह्लाद्कारक है, वही ध्वनि है – ''इहमत्तममति शायिनी व्यंग्ये वाच्याद ध्वनि बुधैः कथित'' अर्थ मुख्यतः वाच्य एवं प्रतीयमान दो होते हैं। साहित्य में ध्वनिवादियों की दृष्टि में अलंकार आदि का ग्रहण वाच्य अर्थ में होता है तथा ध्वनि का ग्रहण प्रतीयमान अर्थ में होता है। आचार्य आनंद

वर्धन के अनुसार प्रतीयमान अर्थ की सत्ता निश्चित होती है, तथा वह एक अन्य ही वस्तु है। इसी ''अन्य'' शब्द की व्याख्या आचार्य आनंद वर्धन के अनुसार इस प्रकार है– किसी सुन्दरी के शरीर में अंग तथा अवयव के अतिरिक्त लावण्य की सत्ता रहती है, इसी प्रकार काव्य में भी चमत्कारोत्पादक प्रतीयमान अर्थ विद्यमान रहता है। यथा –

NOTES

''प्रतीय मान पुनरन्यदेववस्त्वस्ति वाणीषु महाकवीनाम।

यत्त प्रसिद्धावयवातिरिक्तं विभाति लावण्यमिवाङ्गनासु।।''

ध्वनि सिद्धांत की उद्भावना और प्रतिष्ठा आनंदवर्धन की अपनी विशेषता है। आचार्य आनंदवर्धन ने पूर्ववर्ती कवि वाल्मीकि, व्यास तथा कालिदास आदि कवियों के काव्य में ध्वनितत्व को देख उसे काव्य का प्रधान तत्व स्वीकार कर आत्मा के पद पर बड़े सम्मान के साथ प्रतिष्ठित किया है। परवर्ती काल में मम्मट, विश्वनाथ और पण्डित जगन्नाथ तक ने ध्वनि के महत्व को प्रतिपादित किया है।

ध्वनि का स्वरूप :

संस्कृत काव्यशास्त्र में ध्वनि सिद्धांत एक महत्वपूर्ण सिद्धांत के रूप में प्रतिष्ठित है। ध्वनि शब्द की निष्पति ''ध्वन'' धातु ''इ'' प्रत्यय के संयोग से हुई है। इस ध्वनि शब्द का सामान्य अर्थ कानों को सुनाई पड़ने वाला नाद है। किन्तु पारिभाषिक रूप में अभिनव गुप्त ने इस शब्द के कई माने हैं –

(1) ध्वनतियः सः व्यंजक शब्द ध्वनि – जो ध्वनित करे या कराए वह व्यंजक शब्द ध्वनि है।

(2) ध्वनति ध्वनयति या यः सः व्यंजकोऽर्थ ध्वनि – जो ध्वनित करे या कराए वह व्यंजक ध्वनि है।

(3) ध्वन्यते इति ध्वनिः – जो ध्वनित किया जाए वह ध्वनि है। इसमें रस अलंकार और वस्तु व्यंग्य अर्थ के तीनों रूप आ जाते हैं।

(4) ध्वन्यते अनेन अति ध्वनि : जिसके द्वारा ध्वनित किया जाए वह ध्वनि है। इससे शब्द अर्थ की व्यापार व्यंजना आदि शक्तियों का बोध होता है।

(5) ध्वन्यतेऽस्मिन्नति ध्वनिः जिसमें वस्तु, अलंकार रसादि ध्वनित हों उस काव्य को ध्वनि कहते हैं।

इस प्रकार ध्वनि का प्रयोग भिन्न–भिन्न किन्तु परस्पर संबद्ध पांच अर्थों में होता है–

1. व्यंजक शब्द

2. व्यंजक अर्थ

3. व्यंग्य अर्थ

4. व्यंजना (व्यंजना व्यापार) और

5. व्यंग्य प्रधान काव्य

स्पष्टतः ये पांचों अर्थ एक दूसरे से घनिष्ठ संबंध रखते हैं।

NOTES

अभिनव गुप्त ने ध्वनि के इन अर्थों की ओर अपनी टिप्पणी में इस प्रकार संकेत किया है– ''सर्वत्र शब्द और अर्थ दोनों का ही ध्वनन व्यापार होता है। यह काव्य विशेष का अर्थ है।'' अर्थ या शब्द या व्यापार वाच्य अर्थ ध्वनन करता है और शब्द भी, इसी प्रकार व्यंग्य (अर्थ) ध्वनित करता है। अथवा शब्द–अर्थ का व्यापार भी ध्वनन है। इस प्रकार कारिका के द्वारा प्रधानतया समुदाय शब्द, अर्थ वाच्य (व्यंजक अर्थ और व्यंग्य अर्थ तथा शब्द और अर्थ का व्यापार ही ध्वनि है।)

ध्वनि लक्षण की व्याख्या आनंदवर्धन ने विशेष रूप से की है। उनके द्वारा कहा गया– जहां अर्थ स्वयं को तथा शब्द अपने अभिधेय अर्थ को गौण करके जिस अर्थ को प्रकाशित करते हैं उस काव्य विशेष को विद्वान ध्वनि कहते हैं।

हिन्दी साहित्य कोष में भी ध्वनि की व्याख्या इस प्रकार की गई है– ''सामान्य व्यवहार में कानों को सुनाई पड़ने वाले नाद को ध्वनि कहते हैं।''

ध्वनि काव्य के प्रमुख भेद :

आनंद वर्द्धन ने काव्य के दो प्रधान भेद किए हैं –

1. अमिधा मूलक ध्वनि

2. लक्षणा मूलक ध्वनि

अमिधा मूलक ध्वनि :

इसके मूल में अमिधा का होना स्वाभाविक है। इसके भी आपने दो भेद किए हैं –

(क) असंलक्ष्य क्रम ध्वनि : जहां वाच्यार्थ के साथ–साथ व्यंग्यार्थ ध्वनित हो जाता है, दोनों के मध्य कोई अन्तर प्रतीत नहीं होता, वहां असंक्ष्य क्रम ध्वनि होती है।

(ख) संलक्ष्य क्रम ध्वनि : इसमें क्रम स्पष्टतः लक्षित रहता है। अर्थात जहां पहले वाच्यार्थ और फिर व्यंग्यार्थ का बोध हो उस संलक्ष्य क्रम ध्वनि कहते हैं।

NOTES

(2) लक्षणा मूलक ध्वनि :

यह स्पष्ट रूप से लक्षणा पर आश्रित रहती है। इसे अविवक्षित वाच्य ध्वनि भी कहते हैं। इसमें वाच्यार्थ बाधित होता है, उसके द्वारा अर्थ की प्रतीति नहीं होती। इसके भी दो भेद हैं –

(क) अर्थान्तर संक्रमित वाच्य ध्वनि :

इसके मूल में उपादान लक्षणा को मानकर यह कहा गया कि जहां वाच्यार्थ अन्यार्थ में संक्रमण कर जाए, वहां यह ध्वनि होती है –

''सीता हरन तात जनि, कहेउ पिता सन जाए।

जो मैं राम तो कुल सहित दसानन आय।।''

(ख) अत्यंत तिरस्कृत वाच्य :

जहां मुख्यार्थ का एकदम तिरस्कार हो जाए या वाच्यार्थ का सर्वथा त्याग हो–

''सकल राजाओं से हाथ पसार, लुटता इधर लोभ गृह द्वारा।''

ध्वनि सिद्धांत के उपर्युक्त भेदों के साथ कई अन्य उपभेद भी हैं। ध्वनि सिद्धांत के प्राण शब्द शक्तियां हैं और शब्द शक्तियों में भी व्यंजना शब्द शक्ति इसका पोषण करती है।

व्यंग्यार्थ के आधार पर ध्वनिवादियों काव्य के तीन भेद किए हैं –

1. ध्वनि काव्य या उत्तम काव्य :

जिस काव्य में प्रतीयमान अर्थप्रधान होता है और शब्द व अर्थ अपने को गौण बनाकर किसी चमत्कारपूर्ण व्यंग्यार्थ को अभिव्यक्त करते हैं वहां ध्वनि काव्य होता है। इसे ही ध्वनिवादियों ने उत्तम काव्य कहा है।

2. गुणीभूत काव्य :

जहां व्यंग्य के संबंध होने पर वाच्य का चारुत्व अधिक प्रकर्ष युक्त हो जाता है, वहां गुणीभूत व्यंग्य होता है। इस गुणीभूत व्यंग्य काव्य में व्यंग्यार्थ की प्रधानता और अप्रधानता ही ध्वनि एवं गुणीभूत काव्य के अंतर का काव्य है। जैसे– ''ललनाओं के लावण्य के समान जिस व्यंग्य का अर्थ प्रतिपादन किया गया है, उनका प्राधान्य होने पर ध्वनि काव्य होता है। उस (व्यंग्य) के गुणीभूत हो जाने पर वाच्यार्थ के चारुत्व की वृद्धि हो जाने पर गुणीभूत व्यंग्य नाम का काव्य भेद माना जाता है।'' आचार्य आनंद वर्द्धन ने लिखा है– व्यंग्य का प्राधान्य होने पर ध्वनि नाम का काव्य भेद होता है और गौण होने पर गुणीभूत व्यंग्य होता है।

मम्मट ने गुणीभूत व्यंग्य को माध्यम काव्य कहा है। किन्तु पण्डित राज जगन्नाथ गुणीभूत व्यंग्य काव्य को उत्तम काव्य मानते हैं। वस्तुतः गुणीभूत व्यंग्य काव्य वह है जिसमें वाच्यार्थ व्यंग्य विशिष्ट होता है। वह ध्वनि का ही एक निष्पंदन है, चाहे व्यंग्यार्थ होकर रहे या अप्रधान होकर रहे।

NOTES

गुणीभूत व्यंग्य काव्य आठ प्रकार के होते हैं –

1. **अगूढ़ व्यंग्य :**

   जहां सामान्य जनों को भी व्यंग्यार्थ की प्रतीति सहज ही हो जाती है, वहां अगूढ़ व्यंग्य नामक गुणीभूत व्यंग्य काव्य होता है।

2. **अपरांग व्यंग्य :**

   जहां एक व्यंग्यार्थ किसी अन्य व्यंग्यार्थ का अंग होता है वहां अपरांग गुणीभूत व्यंग्य ध्वनि होती है। इसमें रस, भाव, भावामास एक दूसरे के अंग बन जाते हैं।

3. **वाच्य सिद्ध व्यंग्य :**

   जब व्यंग्य वाच्यार्थ की सिद्धि करने वाला होता है, तब उसे वाच्य सिद्धयंग व्यंग्य कहते हैं।

4. **अस्फुट व्यंग्य :**

   जहां व्यंग्य गूढ़ हो, अच्छी तरह प्रकट न हो वहां अस्फुट व्यंग्य होता है। यह सहृदय भी कठिनता से समझ पाते हैं।

5. **संदिग्ध–प्राधान्य व्यंग्य :**

   जहां पर वाच्यार्थ एवं व्यंग्यार्थ दोनों में संदेह बना रहे कि चमत्कार किसमें अधिक है वहां संदिग्ध प्राधान्य व्यंग्य होता है।

6. **तुल्य प्राधान्य व्यंग्य :**

   जहां पर वाच्यार्थ एवं व्यंग्यार्थ दोनों ही समान रूप से चमत्कार पूर्ण हों वहां पर तुल्य प्राधान्य व्यंग्य होता है।

7. **असुन्दर व्यंग्य :**

   जब वाच्यार्थ से व्यंग्यार्थ कम सुन्दर हो या फिर असुन्दर हो वहां असुन्दर प्राधान्य व्यंग्य होता है। इसमें वाच्यार्थ अधिक सुन्दर होता है।

NOTES

8. **काक्वाक्षिप्त व्यंग्य :**

जहां पर काकु (कंठ की ध्वनि विशेष) के द्वारा व्यंग्य प्रकट किया जाता है वहां काक्वाक्षिप्त व्यंग्य होता है। इसमें ध्वनि के विकास से व्यंग्य प्रकट होता है।

(3) **चित्रमयया अधम काव्य :**

जहां केवल शब्दार्थ चमत्कार अर्थात वाच्यार्थ में चमत्कार हो, प्रतीयमान अर्थ (व्यंग्यार्थ) का अभाव हो वहां चित्रकाव्य या अधम काव्य माना जाता है– यथा–

''पतवारी माला पकरि, और न कछु उपाय।

तोरि संसार पयोधि कौं, हटि नामें करि नाउ।।''

इस दोहे में सांग रूपक अलंकार का ही वाच्यार्थगत चमत्कार है। यहां पर रसादि की व्यंग्य ध्वनि का अभाव है अतः यहां चित्र काव्य है।

औचित्य सिद्धांत की प्रमुख स्थापनाएं

लोक व्यवहार और साहित्य में औचित्य इतना व्यापक और सामान्य तत्व है कि इसकी प्रतिष्ठा किसी अभिधान या नामकरण की अपेक्षा नहीं रखती। काव्य या कला और जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में औचित्य का साम्राज्य है। औचित्य सिद्धांत को जन्म देने का श्रेय आचार्य क्षेमेन्द्र को है, परन्तु इस सिद्धांत के बीज हम भरतमुनि के नाट्यशास्त्र में स्पष्ट देख सकते हैं।

आचार्य भरत लिखते हैं कि जिस प्रकार नाना व्यंजनों से सुसंस्कृत अन्न आस्वाद होता है। उसी प्रकार विभावादि के संयोग में स्थायी भाव रसत्व को प्राप्त होता है। जिस प्रकार भोजन को स्वादिष्ट बनाने के लिए नमक, मिर्च, चीनी आदि पदार्थों का उचित सामंजस्य आवश्यक है, उसी प्रकार काव्य को स्वादु बनाने के लिए विभाव, अनुभाव आदि का औचित्य आवश्यक है।

औचित्य : अर्थ एवं परिभाषा

उचित का भाव ही औचित्य है। अर्थात प्रत्येक वस्तु का उचित मात्रा में उपयोग ही औचित्य है। जिस प्रकार वस्तु का उचित अनुपात, पदार्थ, स्थान अथवा दृश्य में सुन्दरता को जन्म देता है, उसी प्रकार काव्य में अलंकार, ध्वनि, रीति और रस आदि का उचित मात्र में प्रयोग सौन्दर्य की वृद्धि करता है।

कुन्तक के अनुसार : ''वस्तु के स्वाभाविक उत्कर्ष का नाम औचित्य है।''

''औचित्य वस्तुतः स्वभावोत्कर्षः।''

आचार्य क्षेमेन्द्र के अनुसार : जो वस्तु अथवा तत्व किसी के निश्चय के अनुरूप हो, उसे आचार्यों ने उचित कहा है। उचित का भाव ही औचित्य कहलाता है।

NOTES

औचित्य सिद्धांत :

औचित्य सिद्धांत के प्रवंर्तक आचार्य क्षेमेन्द्र है। इन्होंने औचित्य को काव्य की आत्मा घोषित किया, परन्तु इसे काव्य की आत्मा मानना कठिन है, क्योंकि यह न तो कोई काव्यांग और न कोई विधान है।

भरतमुनि : इन्होंने औचित्य के निर्णायक तत्व का उल्लेख करते हुए लोक व्यवहार को उसका नियामक माना है, शास्त्र को नहीं। इस प्रकार के विवेचन के द्वारा भरत औचित्य के भावदर्शी आचार्य सिद्ध होते हैं। इन्होंने नाट्यशास्त्र में नाटक के परमतत्व रस का वर्णन औचित्य की दृष्टि से ही किया है।

भामह : इन्होंने औचित्य का उल्लेख न करते हुए उसके स्थान पर ''सन्निवेश विशेष'' शब्द का प्रयोग किया है। विशेष सन्निवेश अर्थात औचित्यपूर्ण विधान होने पर दोष पूर्ण उक्ति भी उसी प्रकार शोभा की जनक हो जाती है, जिस प्रकार माताओं के बीच रखा हुआ नीला (हरा) पलाश यंत्र। भामह की दृष्टि में उक्ति का उतना महत्व नहीं है, जितना उसके संयोजन अथवा विन्यास का।

रूद्रट : इन्होंने काव्य में अनुप्रास के प्रयोग में औचित्य का विचार किया है तथा उसे ही इसका प्रधान निष्कर्ष बतलाया है। काव्य के विविध तत्वों के नियोजन में रूद्रट ने उनके औचित्यपूर्ण प्रयोग का कथन किया है। वृत्तियों का निबंधन, संतुलित एवं समुचित हो, तभी सौन्दर्य की उत्पत्ति हो सकती है।

कुन्तक : कुन्तक ने वक्रोति सिद्धांत का समर्थन करते हुए औचित्य करते हुए औचित्य के महत्व को स्वीकार किया है। इन्होंने औचित्य के दो प्रकार माने और वृत्यौचित्य, अलंकारौचित्य, रीत्यौचित्य आदि का कथन रस वर्णवक्रता के अंतर्गत किया।

अभिनव गुप्त : इन्होंने औचित्य को काव्य की आत्मा मानने एवं काव्य औचित्य को रस से अधिक महत्व देने का प्रबल विरोध किया है। इनके विचार से प्रकाश तो रस ही है। औचित्य तो संबंध विशेष का नाम है। आप ये अवश्य स्वीकार करते हैं कि रस, ध्वनि एवं औचित्य तीनों काव्य के नित्य तत्व हैं।

दण्डी : इन्होंने ''औचित्य'' के स्थान पर ''दोष परिहार'' शब्द का प्रयोग किया है। इन्होंने कवि कौशल को दोषपरिहार का कारण नामा है। दोषों की उत्पत्ति अनुचित संयोग से होती है।

आनंद वर्धन : इनका इस क्षेत्र में सर्वाधिक महत्वपूर्ण स्थान माना जाता है। इन्होंने गद्य रचना में छन्दों के नियामक न होने और पद्य रचना में औचित्य संबंधी सभी नियमों का निर्वाह उचित बताया है। इन्होंने वैसे तो रस के सभी अंगों के औचित्य बात कही है, पर विभाव के औचित्य पर विशेष बल दिया है।

NOTES

महिम भट्ट : इन्होंने काव्य से औचित्य का अभिन्न संबंध मानते हुए इस प्रतीति को औचित्य का ही फल माना है। आपने दोषों का वर्णन औचित्य एवं अनौचित्य की दृष्टि से किया है।

औचित्य के भेद :

आचार्य क्षेमेद्र ने काव्य के विविध अंगों के अनुरूप औचित्य विचार चर्चा में प्रमुख 27 भेद माने हैं– पद, वाक्य, प्रबंधार्थ, गुण, अलंकार, रस, क्रिया, कारक, लिंग, वचन, विशेषण, उपसर्ग, निपात, काल, देश, कुल, व्रत, तत्व, सत्व, अभिप्राय, स्वभाव, सारसंग्रह, प्रतिभा, अवस्था, विचार, नाम और आशीर्वाद है।

1. पद औचित्य : आचार्य क्षेमेद्र कहते हैं कि जैसे गौरांगना के मुख पर कस्तूरी से युक्त श्याम तिलक और श्यामवर्ण कामिनी के मस्तक पर सफेद चंदन का टीका शोभा देता है, वैसे ही एक पद का औचित्यपूर्ण प्रयोग काव्य के सौन्दर्य में वृद्धि करता है।

2. वाक्यगत औचित्य : औचित्यपूर्ण वाक्य रचना उसी प्रकार शोभा देती है जैसे दान से संपत्ति और दक्षिणा आदि से विद्याल सुशोभित होती है। जैसे– धैर्यशाली हिडिम्बापति भीम ने कीचक वध के लिए दूसरे यमदण्ड के सामने अपने बाहुयुगलों को मलना शुरू कर दिया।

3. प्रबन्धार्थ का औचित्य : प्रबंध काव्य में कथानक का सहज, स्वाभाविक रूप में वर्णन करना और पात्रों के चरित्र औदाव्य की रक्षा करने वाली कल्पना करना ही प्रबंधार्थ का औचित्य है।

4. गुणगत औचित्य : तीर रस से प्रसंग में ओज गुणयुक्त पदावली का प्रयोग और श्रृंगार आदि कोमल रसों का प्रसंग में माधुर्य गुण से युक्त पदावली का प्रयोग करना गुणगत औचित्य है।

5. अलंकार गत औचित्य : काव्य में पात्र के गुणों (स्वभाव, विशेषताओं) के अनुरूप उपमा आदि अलंकारों का उपयोग करना ही अलंकार औचित्य है।

6. रसौचित्य : औचित्य से युक्त रस सज्जनों के चित्त को उसी प्रकार अंकुरित कर देता है, जैसे अशोक वृक्ष को मधुमास।

7. क्रियापदौचित्य : जहाँ क्रियापद द्वारा किसी विशिष्ट अर्थ की व्यंजना होती है वहां क्रियोपदौचित्य होता है। जैसे– ''नंद ब्रज लीजें ठोकि बजाई।''

8. कारक औचित्य : कारक का औचित्य प्रयोग ही कारण औचित्य है।

9. लिंग औचित्य : जहां लिंगों का प्रयोग उचित रूप में हो। जैसे– रत्नावली के वियोग में वत्सराज को निंद्रा छू भी नहीं पाती, धृति भी उन्हें छोड़े जा रही है।

NOTES

आचार्य क्षेमेंद्र ने इसी प्रकार अन्य औचित्य पर प्रकाश डाला है जैसे– वचन, विशेषण, उपसर्ग, निपाद आदि का औचित्य। काल, देश, कुल, व्रत, सत्व, सत्य स्वभाव, प्रतिभा आदि का उदाहरण दिया है।

इस प्रकार यह स्पष्ट है कि रस और औचित्य में से यद्यपि काव्यात्मा रस ही है पर काव्य के सिद्धांतों में से औचित्य का विशेष महत्व है क्योंकि इसके अभाव में रस भी नीरस हो सकता है। यह तथ्य सर्वमान्य है कि रस को यदि काव्य की आत्मा माना जाए तो शेष सभी अंग गुण रीति, अलंकार उसके उत्कर्ष में ही सहायक हैं वे रसानुभूति के कारण नहीं है। यही स्थिति औचित्य की है।

सम्भावित प्रश्न :

1. वक्रोति सिद्धांत एवं उसकी अवधारणा को स्पष्ट कीजिए ?
2. वक्रोति के भेद एवं वक्रोति अभिव्यंजना की विवेचना कीजिए ?
3. ध्वनि सिद्धांत एवं उसके स्वरूप का विश्लेषण कीजिए ?
4. ध्वनि सिद्धांत की प्रमुख स्थापनाएं लिखिए ?
5. ध्वनि काव्य के प्रमुख भेद लिखिए ?
6. गुणीभूत व्यंग्य के प्रकार लिखिए ?
7. औचित्य सिद्धांत एवं उसके भेद लिखिए ?

इकाई – 3

प्लेटो का काव्य सिद्धांत

NOTES

यूनानी विचारक प्लेटो दार्शनिक होते हुए भी कवि हृदय सम्पन्न था। उसे केवल बौद्धिक आनंद स्वीकार था, ऐन्द्रिय आनंद नहीं। अतः काव्यजन्य वह आनंद जो इन्द्रियों से सम्बंधित हो, उसे कदापि मान्य न था। उसके मतानुसार मनुष्य के दो धर्म हैं–

1. विशिष्ट व्यक्ति के रूप में उसे सत्य प्राप्ति में संलग्न रहना चाहिए और 2. समाज के सदस्य के रूप में उसे सदाचारी होना चाहिए। उसने अपने कला सम्बन्धी विचार दर्शन के परिप्रेक्ष्य में सिद्ध किए हैं।

इसीलिए प्लेटो कविता को उसी सीमा तक ग्राह्य मानते हैं, जिस सीमा तक वह राज्य तथा मानव जीवन के लिए लाभप्रद हो। उन्होंने स्पष्ट लिखा है– ष्ज ेंसस इम दव ंतहनउमदज जींज ं चवमउ वत चवमज पे बींतउपदह ंकउपतंइसम वत मअमद ेबतमक . टंपद ंतहनउमदज व ंिमजीमजमेण् प्लेटो के अनुसार सत्य वह है जो समाज व व्यक्ति के नैतिक तथा आध्यात्मिक जीवन को बल प्रदान करें। उन्होंने स्पष्ट कहा है– ''जब कभी कई प्राणियों या वस्तुओं की एक सामान्य संज्ञा होती है, तो हम कल्पना कर लेते हैं कि उनका एक सामान्य आदर्श या रूप होगा।'' यही सामान्य आदर्श उनके अनुसार ''सत्य'' और विशेष सत्य ऋत सत्य की छाया मात्र है।

काव्य और सत्य :

प्लेटो ने मूल सत्य का कर्ता ईश्वर को माना है। उसके सत्य की अनुकृति यह संसार है और इस संसार का अनुकरण ही काव्य है। इस प्रकार काव्य सत्य से दूर भी है और समीप भी। प्लेटो के काव्य को सत्य से दूर मानने के कुछ कारण थे। उनके समय की काव्य कृतियों में जीवन का अनुदात्त और अवांछनीय तत्व ही प्रधान था। इसीलिए उन्होंने कहा कि काव्य का सत्य वास्तविक नहीं होता। प्लेटो अनुकरण सिद्धांत को अज्ञानताजन्य मानते हैं इसीलिए कविता भी उन्हें अज्ञान से उत्पन्न तथा सत्य से दूर ज्ञात होती है।

प्लेटो का मत था कि कवियश और कीर्ति के लिए पाठकों की वासनाओं को उत्तेजित कर आवेगपूर्ण व उन्मादग्रस्त प्रकृति का चयन करके उसका चित्रण करता है और लोकप्रिय बनता है। कवि, प्लेटो के अनुसार कवि काव्य के सत्य का उद्भावन करने के लिए नहीं लिखता, अपितु अपने को प्रसिद्ध बनाने के लिए लिखता है। त्रासदी के सम्बंध प्लेटो ने लिखा है– ''ट्रेजडी का कवि हमारे विवेक को नष्ट कर

हमारी वासनाओं को जाग्रत करता है, उनका पोषण करता है और उन्हें पुष्ट करता है।'' इसीलिए काव्य का सत्य वास्तविक सत्य से दूर रहता है।

NOTES

सत्य का अनुकरण :

अब प्रश्न यह उठता है कि यदि काव्य, सत्य की अभिव्यक्ति न होकर केवल अनुकरण है तो कवि सत्य का सर्जक नहीं अनुकर्ता हुआ। प्लेटो के अनुसार कवि सत्य का ज्ञाता है ऐसे सत्य का है जो इन व्यक्तियों के सम्पर्क में आकर चले गए हैं और उनकी कृतियों से सम्मोहित हो गए है। इन कृतियों का अवलोकन करते समय उन्होंने यह विस्मरण कर दिया कि वे सत्य से तीन गुना दूर है, क्योंकि वे सत्य का आभास मात्र है।

इसके लिए प्लेटो चित्रकार का तर्क देते हुए कहते है कि जैसे चर्मकार, चित्र बनाने वाला चित्रकार स्वयं चर्म की कला से अनभिज्ञ होता है फिर भी उसका चित्र, चित्रकार के अज्ञान होते हुए भी, वास्तविकता का भ्रम उत्पन्न करता है, क्योंकि इसके निर्णय का आधार रंग–रूप की समानता होती है। वैसे ही होमर आदि कवि जो सत् एवं अन्य विषयों का अपने काव्य में ध्यानानुकरण करते हैं केवल अनुकर्त्ता होते हैं और सत्य से उनका कोई सम्पर्क नहीं होता। कलाकार तो एक दर्पण के समान है इससे अधिक कुछ और सिद्धि नहीं है। अतः प्लेटो के अनुसार कहा जा सकता है कि अनुकर्ता अथवा ध्यायानुकृति का निर्माता केवल बाह्य रूप का ज्ञाता होता है, विषयों के सत्यरूप अथवा स्थिति का नहीं। इसीलिए वह काव्य को सत्य भासित होने वाले विषयों का अनुकरण तथा कविक्रीड़ा मात्र मानता है।

"Imitation is only a kind of play or sport"

विवेचन :

स्पष्टतया प्लेटो की काव्य सर्जना सम्बन्धी स्थापनाओं का मूल उनकी यह मान्यता है कि भौतिक सृष्टि परम सत्य का और काव्य इस भौतिक सृष्टि का अनुकरण है दोनों ही सत्य से दूर है और काव्य अपेक्षाकृत और भी दूर हैं। स्पष्ट है कि उनकी दृष्टि इतिवृत्तात्मक और वस्तुपरक है।

डॉ. निर्मला जैन के अनुसार– ''पात्रों के व्यवहार का कार्य व्यापार का, अनुभूतियों का, अन्तःप्रकृति का, एक शब्द में समग्रचित्रण का अंकन करने के लिए कवि केवल, कल्पना और अनुभूति के सहारे उनसे तादात्म्य ही नहीं करता, उन्हीं क्षणों में, परिस्थितियों में स्वयं जीता है। यदि वह ऐसा नहीं करता तो वह वास्तविकता का भ्रम उत्पन्न करने में समर्थ नहीं हो सकता।''

यह भी कहा जा सकता है कि प्लेटो काव्य सर्जन के लिए विषय से तादात्म्य को अनिवार्य न मानते हों, पर ऐसा भी नहीं है। ''इओन'' में उन्होंने लिखा है–

NOTES

''काव्य विषय से तादात्मय केवल कवि के लिए ही नहीं, वाचक, चरण वृन्द के लिए भी अनिवार्य हैं अन्यथा यह श्रोतावृन्द पर अभीष्ट प्रभाव डालने में सफल नहीं हो सकता है। ''प्लेटो के अनुसार सत्य काव्य है जो मानव स्वभाव का सच्चा चित्र इस प्रकार प्रस्तुत करे कि उससे मानव स्वभाव में जो कुछ भी महान है, उनका संवर्द्धन हो।

इस धारणा का कारण :

अब प्रश्न यह उठता है कि प्लेटो की काव्य विषयक इस धारणा का कारण क्या था ? इस धारणा का कारण यह था कि ऐसे बहुत कम व्यक्ति होते हैं जो काव्य के अन्तरंग रूप को समझ सकें। फिर उन दिनों की काव्य कला मनोरंजन का साधन बनी हुई थी। यह प्लेटो को अभीष्ट नहीं था। चूंकि काव्य में अनैतिक चित्रण से जनसामान्य पर विनाशकारी प्रभाव पड़ता था। इसलिए प्लेटो काव्य के नियमन की आवश्यकता पर विशेष बल देते थे। यही उनकी कुछ शिथिलतायें हैं। यदि काव्य में कवि वास्तविकता से दूर की रचना करता है तो यह भी सही है कि वह सत्य से कुछ अधिक ही दे देता है। भले ही उसमें वर्णित घटनाएं यर्थाथ न हो, पर वे मानव मात्र की सहज मूल प्रवृत्तियों पर आधारित होने के कारण सत्य से भी अधिक होती है। फिर भी उनका अनुकरण सिद्धांत श्लाघनीय है यह निर्विवाद है।

अरस्तू का अनुकरण सिद्धांत

अनुकरण यूनानी शब्द ''मीमेसिस'' का पर्याय है और हिन्दी में यह अंग्रेजी शब्द ''इमिटेशन'' से रूपान्तरित होकर आया है। आज अरस्तू का ''अनुकरण सिद्धांत'' समालोचना के क्षेत्र में विशेष महत्वपूर्ण नहीं रह गया है। यदि उसका प्रयोग होता है तो मात्र सुंदर–असुंदर कला में भेद बताने के लिए ही। अंग्रेजी के आलोचक जर्ज सेण्ट्सबरी के अनुसार ''यद्यपि यह सिद्धांत विवादास्पद रहा फिर भी इसका महत्व कम नहीं है, क्योंकि यही पहला सिद्धांत है जिसने काव्य में प्रकृति और कला के तत्वों पर पारस्परिक अनुपात निर्धारित करने का प्रयत्न किया है।''

अरस्तू से पूर्व प्लेटो ने अनुकरण के सिद्धांत का विवेचन किया और वह इसी आधार पर काव्य को त्याज्य समझते थे कि ईश्वर ही सत्य है, इसकी अनुकृति संसार है और संसार की अनुकृति काव्य है। इस प्रकार काव्य का अनुकरण है। इस प्रकार उन्होंने अनुकरण का प्रयोग स्थूल अर्थ में लिया है और अनुकरण के आधार पर ही काव्य के तीन भेद किए हैं– 1. नाट्यात्मक काव्य, 2. असत्य काव्य, 3. सत्यकाव्य। अरस्तू ने भी अनुकरण के सिद्धांत को इसी रूप में लिया और अपनी कल्पना से इसमें नया रंग भर दिया है।

अरस्तू द्वारा अनुकरण शब्द प्रयोग

NOTES

अरस्तू के विभिन्न टीकाकार उसके द्वारा प्रयुक्त ''अनुकरण'' शब्द की व्याख्या अपने–अपने ढंग से करते हैं। प्रो. बुचर के अनुसार, अरस्तू के द्वारा प्रयुक्त अनुकरण शब्द का अर्थ–सादृश्य विधान अथवा मूल का पुनरुत्पादन कलाकृति मूल वस्तु का पुनरुत्पादन सांकेतिक उल्लेख नहीं।

प्रो. गिलबर्टमरे ने यूनानी शब्द ''पोएतेस'' (कर्ता–रचयिता) को आधार मानकर अनुकरण शब्द की व्युत्पत्तिमूलक व्याख्या की है, ''यदि यह देखकर आश्चर्य होता है कि अरस्तू और उससे पहले प्लेटो को कला के सम्बन्ध में अनुकरण सिद्धांत के प्रति इतना आग्रह क्यों था तो हमें इस तथ्य के द्वारा सहायता मिल सकती है कि जनसाधारण भाषा में कला के लिए ''रचना या करण'' शब्द का प्रयोग होता था जबकि स्पष्टतः यह प्रकृत अर्थ में रचना नहीं थी।'' इसे स्पष्ट करते हुए प्रो. मरे लिखते हैं कि कवि शब्द के यूनानी पर्याय में ही अनुकरण की धारणा निहित थी, किन्तु अनुकरण का अर्थ सर्जना का अभाव नहीं था।

आधुनिक टीकाकरण पौटस ने अनुकरण का अर्थ ऐसे प्रभाव के उत्पादन से लिया है जो किसी स्थिति, अनुभूति अथवा व्यक्ति के शुद्ध, प्रकृत रूप से उत्पन्न होता है। जेम्स स्कॉट इसे जीवन के कल्पनात्मक पुनर्निर्माण का पयार्य मानते हैं।

अरस्तू द्वारा अनुकरण की व्याख्या

इन सब टीकाकारां की व्याख्याएं भी अपने आप में कम महत्वपूर्ण नहीं है। किन्तु साथ ही अरस्तू द्वारा अनुकरण शब्द की जो व्याख्या है वह भी अधिक उपादेय हैं अरस्तू ने काव्यकला को सौन्दर्यवादी दृष्टि से देखा और उसे दार्शनिक, राजनीतिक तथा नीतिशास्त्र के बन्धन से मुक्त किया। अरस्तू कला को प्रकृति की अनुकृति मानते हैं। उन्हीं के शब्दों में– ष्ंतज पउपजंजमे दंजनतमष प्रकृति से अरस्तू का अभिप्राय पी.एस. शास्त्री के अनुसार जगत के बाह्य, स्थूल और गोचररूप तथा साथ–साथ आन्तरिक रूप (क्रोध, काम, कल्पना) आदि से था। दूसरे, अरस्तू हूबहू नकल भी अनुकरण नहीं मानते। उनके अनुसार अनुकृति की प्रक्रिया के अनेक दोष व अभाव भी कला द्वारा पूरे किए जाते हैं।

एवरकोम्बे अरस्तू के तर्क की व्याख्या करते हुए लिखते हैं ''अरस्तू का कहना था कि यदि कविता प्रकृति का केवल दर्पण होती है, और वह हमें उससे कुछ अधिक नहीं दे सकती, जो प्रकृति देती है। पर तथ्य यह है कि हम कविता का आस्वादन इसीलिए करते हैं, क्योंकि वह हमें जो प्रदान करती है, जो प्रकृति नहीं दे सकती।''

अनुकार्य के सम्बन्ध में अरस्तू का मत है कि कवि का अनुकार्य इन तीन प्रकार की वस्तुओं में से एक होगा– जैसी वे थी या है, जैसी वे कही या समझी

जाती है अथवा जैसी वे होनी चाहिए। स्पष्ट रूप से अरस्तू काव्य का विषय प्रकृति के प्रतीयमान, सम्भाव्य और आदर्श रूप को मानते हैं। इस तरह अरस्तू के अनुसार काव्य में निश्चित तौर पर कवि की भावना और कल्पना का योग रहता है।

NOTES

अनुकरण की प्रक्रिया

इस सम्बन्ध में अरस्तू का स्पष्ट कथन है कि कवि वस्तुओं को उनके यथास्थिति में वर्णन नहीं करता वरन उनके युक्तियुक्त रूप में वर्णन करता है। कलाकार का यह कर्तव्य है कि वह मूल वस्तु में स्थित प्राकृतिक उपयुक्तता तथा सत्य को ही प्रेषित करने का प्रयत्न न करें बल्कि अपनी कला माध्यम के अनुरूप आवश्यक तथा सम्भावित का भी प्रेषण करें।

इस प्रकार अरस्तू के अनुसार कवि मानव जीवन के स्थायी तत्व की अभिव्यक्ति के लिए वस्तु के सत्य का बलिदान भी कर सकता है और उसमें परिवर्तन भी कर सकता है। केवल प्राणी या मानव के कार्य ही नहीं उनके भाव, विचार, चरित्र आदि भी अनुकरण की वस्तु है। अतः काव्य में जिस मानव का चित्रण होता है वह सामान्य मानव से अच्छा भी हो सकता है और उससे बुरा भी अथवा वैसे का वैसा भी और यह चित्रण काव्य में आनंद के दृष्टिकोण से किया जाता है। यह आनंद सहृदय का होना चाहिए पर सहृदय को आनंद तभी होता है, जब कवि को भी हो। इससे स्पष्ट होता है कि अरस्तू के अनुकरण सिद्धांत में आत्म–तत्व निश्चित रूप से है।

विवेचन एवं निष्कर्ष

स्पष्ट है कि अरस्तू के अनुसार अनुकरण के विषय जीवन के बहिरंग पक्ष ही नहीं है अपितु अन्तरंग पक्ष विचार, अनुभूति, कल्पना आदि भी है और इन दोनों में भी अन्तरंग पक्ष का प्राधान्य है क्योंकि अनुकरण यथार्थ रूप का ही नहीं, सम्भावित रूप का भी किया जाता है और इन्द्रियों पर उसके अंकित स्परूप का अनुकरण किया जाता है, फिर अरस्तू काव्य के लिए 'वस्तु जैसी है' की अपेक्षा 'वस्तु कैसी होनी चाहिए या हो सकती है' पर अधिक जोर देते हैं।

यह निर्विवाद है कि अरस्तू आत्मतत्व और कल्पनातत्व को स्वीकार करते हुए भी वस्तुतत्व को अधिक प्रधानता देते हैं। वह व्यक्तिपरक भावतत्व की अपेक्षा वस्तुपरक भावतत्व को विशेष महत्व देते हैं। क्रोचे के अनुसार, कला सहजनाभूति है जो अभिव्यक्ति से अभिन्न है। कला का मूलरूप कलाकार के मन में घटित होता है। इस प्रकार अनुकरण सिद्धांत क्रोचे के सिद्धांत के अनुसार कला सर्जन के प्रसंग में केवल आनुषंगिक प्रक्रिया मात्र होकर रह जाता है।

समग्रतः कहा जा सकता है कि अरस्तू ने अनुकरण को प्लेटो की अपेक्षा भले ही नवीन अर्थों में प्रयोग किया हो और उसमें 'शिव' की अपेक्षा सौन्दर्य की ओर बल

दिया हो, उसे दार्शनिक व नीतिज्ञों के चंगुल से भी पृथक किया हो, पर वह उसके आंतरिक पक्ष की सतह तक नहीं पहुंच पाए। डॉ. नगेन्द्र के अनुसार ''अपने सम्पूर्ण विवेचन में अरस्तू का दृष्टिकोण इसी कारण अभावात्मक रहा है और त्रास व करूणा का विवेचन उसकी चरम सिद्धि रही है।'' अरस्तू के अनुकरण सिद्धांत में कवि की निर्माण क्षमता पर तो बल दिया गया है, पर जीवन के विभिन्न अनुभवों से निर्मित कवि की अन्तः चेतना को पूर्णतः महत्व नहीं दिया गया। उन्होंने सभी विषयों को अनुकार्य माना है।

NOTES

अरस्तू का त्रासदी सिद्धांत

यूनानी भाषा में त्रासदी को त्रगोडिया कहते थे और उसका अर्थ अजागीत होता था। इस प्रकार प्राचीन यूनान में दिओनिसोस देवता को प्रसन्न करने के लिए जो खेल तमाशे होते थे उन्हें ही ट्रेजेडी का मूल रूप कहा जाता है। यद्यपि प्लेटो आदि विचारकों ने भी ट्रेजडी के संबंध में अपने विचार प्रकट किए हैं पर अरस्तु ने ही सर्वप्रथम ट्रेजडी का गंभीर विशद एवं सर्वांगीण विवेचन प्रस्तुत किया है और उसका यह विवेचन केवल मौलिक ही नहीं बल्कि आगामी विद्वानों को चिन्तन और तात्विक विश्लेषण करने की प्रेरणा भी देते हैं। इस प्रकार अरस्तू ने पहली बार त्रासदी की परिभाषा देते हुए कहा कि कुछ त्रासदी एक ऐसे कार्य का अनुकरण है जो गंभीर है, स्वतः पूर्ण है और जिसका एक निश्चित आयाम है। यह अनुकरण करूणा और भय के संचार मनोवेगों को उत्तेजित कर उनका उचित विवेचन या सम्मार्जन करता है।

त्रासदी की परिभाषा देते हुए अरस्तू ने पोयटिक्स के छठवें अध्याय के आरंभ में लिखा है– त्रासदी किसी गंभीर स्वतःपूर्ण तथा निश्चित आयाम से युक्त कार्य की अनुकृति है जिसका माध्यम नाटक के भिन्न–भिन्न रूप से प्रयुक्त सभी प्रकार के आभरणों से अलंकृत भाषा होती है जो सामाख्यान रूप न होकर कार्य व्यापक रूप में होती है और जिसमें करूणा तथा त्रास के उद्रेक द्वारा इन मनोविकारों का उचित विवेचन किया जाता है। इस आधार पर अरस्तू ने त्रासदी को कार्य की अनुकृति माना है और त्रासदी में निम्न छः तत्वों को खोजा है –

1. कथानक / कथावस्तु :

कथावस्तु से अरसतू का तात्पर्य घटनाओं के विन्यास से है। वह त्रासदी का सबसे महत्वपूर्ण अंग उसकी आत्मा मानता है। इसके कारण ही त्रासदी कार्य तथा जीवन की अनुकृति है और जीवन की अनुकृति में काव्य व्यापार की ही प्रमुखता होती है और ये कार्य व्यापार घटनाओं के माध्यम से ही अभिव्यक्त होते हैं। बिना कार्य व्यापार के त्रासदी नहीं हो सकती, बिना चरित्र चित्रण के हो सकती है। चारित्र्य व्यंजक भाषण, विचार अथवा पदावली उतना कारुणिक प्रभाव उत्पन्न नहीं कर सकते जितना कथानक।

NOTES

कथावस्तु के मूल गुण – अरस्तू त्रासदी के कथानक के लिए उसके कुछ मूलगुणों को भी आवश्यक मानते हैं इन्हीं से कथानक में प्राण प्रतिष्ठा होती है।

1. **एकान्विति (unity) :** कथानक में एकान्विति का अर्थ एक व्यक्ति की कथा से न होकर कार्य की एकता से है। अरस्तू के अनुसार– ''कथानक की धुरी ऐसा कार्य व्यापार होना चाहिए जिसके विभिन्न अंग परस्पर सम्बद्ध होने के साथ–साथ मूलकार्य से भी सम्बद्ध हों, जिनमें कोई अनावश्यक और निरर्थक अंग न हो।'' अर्थात यदि कथानक के किसी भी अंग को इधर–उधर किया जाए तो वह विश्रृंखलित हो जाए।

2. **पूर्णता** : कथानक में पूर्णता भी होनी चाहिए क्योंकि ''त्रासदी ऐसे कार्य की अनुकृति है जो समग्र एवं सम्पूर्ण हो और जिसमें एक निश्चित विस्तार हो।'' पूर्णता से अभिप्राय यह हुआ कि कथानक की समाप्ति कर दर्शक या दर्शक के मन में कोई जिज्ञासा शेष न रह जाए।

3. **सम्भाव्यता** : कथानक में कल्पना की उड़ान ज्ञात न होकर वास्तविक जगत का ज्ञान होना चाहिए जिसमें घटित होने की संभावना रहे। असंभव घटनाएं मानव–मन ग्रहण नहीं कर पाता, अतः उसकी उपयुक्तता आवश्यक है।

4. **सहज विकास** : कथानक का विकास सहज रूप में होना चाहिए। घटनाएं जब एक दूसरे का सहज परिणाम होते है तभी श्रोता या प्रेक्षक उन्हें ग्रहण कर पाता है।

5. **कौतूहल** : प्रत्येक कथानक में मानव की कौतूहलवृति को उद्बुद्ध कर उसका परितोष करने की क्षमता होनी चाहिए इसके लिए आवश्यक है कि घटनाएं अचानक ही उपस्थित की जाए।

6. **साधारणीकरण** : अरस्तू ने साधारणीकरण को प्रबन्ध कला का मूलतः आधार माना है। इनका मत है कि घटना–विन्यास करने के पूर्व कवि को अपने कथानक की एक सार्वभौम और सर्वसाधारण को ग्राह्य करने की रूपरेखा बना लेनी चाहिए जो सभी के साथ तादात्मय कर सके।

7. **कथानक के भेद** : अरस्तू ने कथानक के दो भेद माने हैं– 1. सरल, 2. जटिल इन दोनों का निर्णायक है– कार्य। कार्य यदि सरल है तो कथानक भी सरल होगा और कार्य यदि जटिल है तो कथानक भी जटिल होगा।

2. चरित्र चित्रण

कथानक के बाद दूसरा महत्वपूर्ण तत्व त्रासदी के लिए अरस्तू ने चरित्र चित्रण को माना है। उनके अनुसार चरित्र वह है जिसके आधार पर अभिकर्त्ताओं में

कुछ गुणों का आरोप करते हैं और उसके माध्यम से किसी व्यक्ति की रुचि–विरुचि का दर्शन होता है। चरित्र चित्रण के आधारभूत सिद्धांत निम्न है–

NOTES

1. **भद्रता** : पात्र का भद्र होना भी आवश्यक है। यदि उद्देश्य भद्र होती है तो चरित्र भी भद्र होगा। यह गुण प्रत्येक वर्ग में संभव है।
2. **औचित्य** : किसी पात्र के चित्रण में उसकी प्रकृति, जाति तथा वर्गगत विशेषताओं का ध्यान रखना चाहिए।
3. **जीवन के अनुरूप** : चरित्रों का जीवन के अनुरूप होना आवश्यक है अर्थात त्रासदी के पात्र जीवन्त होने चाहिए, कार्बन की कापी नहीं।
4. **चरित्र में एकरूपता** : अरस्तू के अनुसार चरित्र में भले ही अनेकरूपता हो, पर उसके चित्रण में एकरूपता होनी चाहिए।
5. **सम्भाव्यता** : अरस्तू प्रत्येक पात्र को अपनी विशिष्टता के आधार पर बोलने और काम करने की अनिवार्यता पर बल देते हैं।
6. **यथार्थ और आदर्श का समन्वय** : अरस्तूत का विचार है– चूंकि त्रासदी में ऐसे व्यक्तियों की अनुकृति होती है जो सामान्य स्तर पर ऊँचे होते है, अतः उसमें श्रेष्ठ चित्रकारों का आदर्श सामने रखना चाहिए।

3. पदरचना (Distion)

पदरचना का सम्बन्ध शब्द और उनके अर्थ से है। त्रासदी का माध्यम अलंकृत भाषा होती है– ऐसी भाषा जिसमें लय, सामंजस्य और गीत का समावेश है। ''भाषा गद्य और पद्य दोनों में समान रूप में रहती है। अतः त्रासदी की पद–रचना अलंकृत, गरिमामय, समृद्ध परंतु आडम्बर से मुक्त होनी चाहिए।

4. विचार तत्व

अरस्तू के अनुसार विचार का अंश है– प्रस्तुत परिस्थिति में जो संभव और संगत हो सके, उसके प्रतिपादन की क्षमता। इस प्रकार अरस्तू का विचार तत्व से तात्पर्य बुद्धि तत्व से है। साथ ही उन्होंने भाव तत्व का समावेश भी इसी तत्व के अन्तर्गत कर लिया है क्योंकि ''करूणा, त्रास और क्रोध की उद्‌बुद्धि'' डॉ. नागेन्द्र के अनुसार ''बुद्धि तत्व के अन्तर्गत नहीं मानी जा सकती।''

डॉ. नागेन्द्र ने अरस्तू के विचार तत्व के दो रूप बताए हैं– 1. वस्तुगत– जिसमें लेखक अपने पात्रों के द्वारा उसके विचारों का प्रतिपादन करता है। 2. आत्मगत रूप से जो उसके अपने विचारों का प्रतिफल होता है जिसका प्रतिपादन वह नाटक के समस्त अंगों द्वारा करता है।

NOTES

5. गीत (Melody)

त्रासदी में गीत को एक प्रकार के ''आभरण'' के रूप में लिया जाता है। इसका प्रयोग वृन्दगान के अन्तर्गत किया जाता है पर अरस्तू ने इसे त्रासदी का अभिन्न अंग माना है।

6. दृश्य–विधान (Spectade)

इसका संबंध रंगमंच की साज–सज्जा आदि से है। यह एक बाह्य प्रसाधन है जिसका सम्बन्ध ऐन्द्रिय आकर्षण से है। अरस्तू के मत में त्रासदी के सब अंगों में सबसे कम कलात्मक यही है। यह कवि की अपेक्षा मंच शैली पर अधिक निर्भर रहती है। दूसरे इसके बिना त्रासदी के प्रबल प्रभाव की अनुभूति हो सकती है। अतः त्रासदी के मूल प्रभाव के लिए यह सर्वथा अनिवार्य नहीं है।

त्रासदी भेद – अरस्तू ने त्रासदी के चार भेद माने हैं।

1. जटिल त्रासदी : जो पूर्णतः विपर्यय और अभिज्ञान पर निर्भर होती है।
2. करुण त्रासदी : जिसका प्रेरक हेतु आवेग होता है।
3. नैतिक त्रासदी : इसका प्रेरक हेतु नैतिकता है।
4. सरल त्रासदी : इसमें किसी प्रकार की जटिलता न होकर एकान्विति ही होती है और सहज होती है।

लोंजायनस के उदात्त की अवधारणा

यूनानी काव्य शास्त्र में प्लेटो और अरस्तू के पश्चात् लोंजायनस का आदरपूर्वक नाम लिया जाता है। उनकी सुप्रसिद्ध रचना 'पेरिइप्पुस' का अंग्रेजी में जैम `नइसपउम नाम से अनुवाद हुआ है जिसका हिन्दी अर्थ है औदात्य अथवा ऊंचाई हैं। यह रचना एक दीर्घाविधि तक अंधकार के गर्त में पड़ी रही और 1954 ई. में प्रथम बार प्रकाशित हुई। यद्यपि लोंजायनस की यह रचना अपूर्व रूप में ही प्राप्त है तथापि इसके उपलब्ध अंश से प्रकट होता है कि इसमें काव्यगत उदात्त भावना की चर्चा नहीं है, अपितु उदान्त शैली के आधारभूत तत्वों का प्रधान रूप से विवेचन हुआ है।

लोंजायनस कहते हैं– ''देवताओं से हमारी किन अर्थों में समानता है परोपकार और सत्य में।'' अतः उदात्त अभिव्यंजना का प्रकर्ष और वैशिष्ट्य है जिसकी सहायता से कवियों और इतिहासकारों ने अमर कीर्ति पाई। उदात्त का प्रभाव श्रोताओं को सम्मोहित कर लेता है जो हमारा मनोरंजन होता है जो हमें विस्मित करता है। अनुनीत होना या न होना श्रोता या पाठक के अधिकार की चीज है पर

उदात्त तो वह बलशाली चीज है जो प्रभावित करके वशीकृत कर लेता है। उदात्त बिजली की तरह प्रकट होता है और पूरे विषय को उद्भाषित कर देता है।

NOTES

लोजायनस ने "उदात्त तत्व" को परिभाषित नहीं किया है। संभवतः उन्होंने इसकी आवश्यकता ही नहीं समझी क्योंकि वे इसके स्वरूप को स्वतः स्पष्ट मानते है। हां उन्होंने इसके अंतरंग और बहिरंग तत्वों की चर्चा अवश्य की है। ये तत्व है– 1. विषय की गरिमा। 2. उत्कृष्ट भावावेग। 3. समुचित अलंकार योजना। 4. उत्कृष्ट भाषा।

5. गरिमामण्डित रचना विज्ञान। इन पांच तत्वों में से प्रथम दो अंतरंग तत्व तथा शेष तीन तत्व बहिरंग पक्ष से सम्बन्ध रखते हैं। इसके साथ ही लोंजायनस ने कुछ ऐसे तत्वों का भी उल्लेख किया जो औदात्य विरोधी हैं। इस प्रकार उनका औदात्य विषयक सम्पूर्ण विवेचन तीन भागों में बांटा जा सकता है। 1. अंतरंग तत्व। 2. बहिरंग तत्व तथा 3. विरोधी तत्व।

औदात्य के अंतरंग तत्व

इसके अंतर्गत विषय की गरिमा तथा उत्कृष्ट भावावेग नामक औदात्य के दो तत्व आते हैं।

1. **विषय की गरिमा** : लोंजायनस के अनुसार विषय की गरिमा ही किसी वृत्ति को महान बनाती है, जिस कवि में उदात्त विचारों के पोषण की क्षमता नहीं है, उसकी रचना कदापि अमरता प्राप्त नहीं कर सकती। उनके शब्दों में यह संभव नहीं है कि जीवनभर क्षुद्र उद्देश्य और विचारों में ग्रस्त व्यक्ति कोई स्तुत्य एवं अमर रचना कर कसे। महान शब्द उन्हीं के मुख से निःसृत होते हैं, जिनके विचार गहन और गंभीर हो।

   लोंजायनस का विचार है कि विषय की गरिमा काव्य में आनन्दोपलब्धि करती है। उनके अनुसार वही रचना महान हो सकती है जिसकी विषय वस्तु में जवालामुखी की तरह शक्ति और वेग समाहित हो तथा ईश्वर का सा ऐश्वर्य और वैभव भी सन्निहित हो।

2. **उत्कट भावावेग** : उत्कट भावावेग से लोंजायनस का अभिप्राय उन भावावेग से है जो हमारी आत्मा को उर्ध्वगामी बनाकर हर्षोल्लास से पूरित कर देता है। जो आवेग अपनी ऊर्जा का उल्लास आदि के सम्मिलित प्रभाव से पाठक की सम्पूर्ण चेतना को अभिरत कर सकें, वहीं श्रेष्ठ रचना को महानता प्रदान करता है।

NOTES

3. **औदात्य के बहिरंग तत्व** : इसके अंतर्गत समुचित अलंकार योजना उत्कृष्ट भाषा तथा गरिमामंडित रचना विधान आते है।

4. **समुचित अलंकार योजना** : लोजायनस ने अलंकारों को वहीं तक उपयोगी माना है, जहां तक वे भाव के उत्कर्ष में सहायक हो। कोरे चमत्कार प्रदर्शन के लिए प्रयुक्त किए गए अलंकारों को वे उचित नहीं ठहराते। लोंजायनस का अभिमत है कि यदि अलंकार भावाभिव्यक्ति में सहायक नहीं होने देते तो वे कविता–कामिनी के भूषण न रहकर दूषण बन जायेंगे। इसलिए उन्होंने उन्हीं अलंकारों का विवेचन किया जो शैली को उत्कर्ष देते हैं। इस कोटि में उन्होंने विस्तारणा, शपथोत्ति, प्रश्नालंकार, व्यत्तिक्रम, पुनरावृत्ति, शिप्तवाक्य, प्रत्यक्षीकरण, संचयन सार, रूप परिवर्तन आदि अलंकार समाहित किए।

5. **उत्कृष्ट भाषा** : लोंजायनस के अनुसार भाव–पक्ष और कलापक्ष का मणि–कांचन संयोग ही रचना को महान बनाता है। यदि गरिमामय विचारों को शूद्र शैली में अभिव्यक्त किया जाएगा तो वे कदापि महत्ता न पा सकेंगे। उनके लिए गरिमामयी भाषा ही वांछनीय है। भाषा पात्रानुकूल और विषयानुरूप होनी चाहिए। छोटी–छोटी बातों को भारी भरकम शब्दों में प्रस्तुत करना उसी प्रकार हास्यास्पद बनेगा जैसे छोटे बच्चे के मुख पर बड़े आकार का मुखौटा।

6. **गरिमा मंडित रचना विधान** : लोंजायनस के अनुसार रचना विधान का गरिमामय होना भी रचना को उदात्त बनाता है।

   इसके अंतर्गत उन्होंने समन्वय पर बल दिया है। विचारों और शैली का समन्वय ही रचना विचार को गरिमा प्रदान करता है। लोंजायनस ने काव्य के आंतरिक और बाह्य को संतुलित समन्वय द्वारा ऐसे काव्य का सृजन सम्भव माना जो हमें पूर्णतः आनन्द मग्न कर उस भावभूमि पर ले जाता है जहां हमारी तर्क पंगु हो जाती है और वर्ण्य विषय विद्युत आलोक की भांति प्रकाशमान हो उठता है।

7. **औदात्य विरोधी तत्व** : लोंजायनस ने औदात्य विरोधी तत्वों का भी विवेचन किया है। हल्कापन, चंचल पद विन्यास, असंयत, वाग्विस्तार, क्षुद्र अर्थ वाले शब्दों का प्रयोग आदि को उन्होंने औदात्य विरोधी माना है। भावाडम्बर और शब्दाडम्बर को भी उन्होंने विरोधी तत्व माना है। ऐसे चमत्कार पूर्ण प्रयोग जो भाव सौन्दर्य का वर्धन नहीं करते और कोई चमत्कार प्रदर्शन के लिए प्रयुक्त होते हैं। उन्हें औदात्य विरोधी तत्व माना है। विचारों को ठूंसने से संक्षिप्तता तो आती है पर विषय की गरिमा नष्ट हो जाती है।

उपसंहार

उपर्युक्त विवेचना से स्पष्ट हो जाता है कि लोंजायनस के विचारों का काव्य शास्त्रीय महत्व बहुत अधिक है। उनका मत है कि कल्पना वह शक्ति है जो पहले कवि को मानसिक रूप से वर्ण्य विषय का साक्षात्कार करा देती है और फिर उसकी सहायता से कवि भाषा में चित्रात्मकता द्वारा विषय को इस प्रकार प्रस्तुत करता है कि वह पाठक के समक्ष भी साकार हो उठता है।

लोंजायनस का औदात्य विषयक विवेचन बहुत महत्वपूर्ण है। यहां पर धीरोदात्त नायक, ओजगुण, वीर रस और गौड़ीय रीति आदि के प्रसंग में ही उदात्त तत्व के दर्शन होते हैं।

लोंजायनस की विचारधारा की एक महत्वपूर्ण बात यह है कि उसने महान वृत्ति को निर्दोष नहीं माना है। उसका कहना है कि निरा नितान्त निर्वोपवृत्ति में क्षुद्रता की सम्भावना अधिक रहती है और महान कृति स्वयं को दोषों की सम्भावना से नितान्त मुक्त नहीं रख पाती। निश्चय ही लोंजायनस के विचार अत्यंत मौलिक हैं एवं उनका सार्वदेशिक व सार्वकालिक महत्व है।

वर्ड्स वर्थ का काव्य भाषा सिद्धांत

19वीं शताब्दी के आरम्भ में विलियम वर्ड्सवर्थ ने काव्य सम्बन्धी सिद्धांतों का नवशास्त्रवाद से सम्बन्ध तोड़कर एक नयी विचारधारा का प्रवर्तन किया जो स्वच्छन्दतावाद के नाम से अभिहित की गई।

काव्य की परिभाषा देते हुए वर्ड्सवर्थ का कथन है कि ''कविता सशक्त भावोद्गारों का स्वतः प्रसूत उच्छलन है जो मन की शांत अवस्था में मनोभावों के अनुस्मरण से उद्भूत होती है। यहां कवि ने दो विरोधी विचारों सशक्त भावोद्गारों का सहज उच्छलन और शांत अवस्था में अनुस्मरित मनोभावों में कोई भेद नहीं किया है। काव्य रचना के लिए वर्ड्सवर्थ दोनों स्थितियों को अनिवार्य मानते हैं क्योंकि यदि स्वतः प्रसूत सशक्त भावोद्गार ही न रहेंगे तो मन की शांत अवस्था में किसका स्मरण किया जाएगा।''

काव्य सिद्धांत

वर्ड्सवर्थ के काव्य सिद्धांत प्रकृति प्रेम पर आधारित है। प्रकृति का चिंतन करते हुए उनकी मनोदशा अपने सर्वोत्तम रूप में अभिव्यक्ति प्राप्त करती है। काव्य की कथावस्तु के स्थान पर वर्ड्सवर्थ ने कवि की अनुभूति पर जोर देते हुए कहा है कि अनुभूति के कारण ही काव्य में मनोदशा और स्थिति को महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त होता है।

वर्ड्सवर्थ ने कविता को समस्त ज्ञान का प्राण और उत्कृष्ट आत्मा कहा और उसे समस्त ज्ञान का आदि और अंत स्वीकार किया है। वर्ड्सवर्थ का कथन है– यदि

वैज्ञानिकों के प्रयत्न कभी हमारी स्थिति में तथा जिन प्रभावों को हम ग्रहण करते हैं उनमें प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से कोई तात्विक क्रांति उत्पन्न कर दें तो भी कवि सुप्तावस्था में वहीं रहेगा।

NOTES

वर्ड्सवर्थ की मान्यता है कि कवि जन सामान्य के लिए लिखते हैं इसलिये उसे काव्य के माध्यम से उपदेश देना चाहिए। उनके शब्दों में ष्अमतल हतमंज चवमज पे ं जमंबीमतण् ए पूी जव इम बवदेपकमतमक ं जमंबीमत वत ` दवजीपदहष इसी के सम्बन्ध में विचार हिन्दी के राष्ट्रकवि मैथलीशरण गुप्त के भी है–

केवल मनोरंजन न कवि का कर्म होना चाहिए।

उसमें उचित उपदेश का भी मर्म होना चाहिए।।

काव्य भाषा एवं शैली सम्बन्धी विचार – वर्ड्सवर्थ ने प्रचलित काव्य शैली और रूढ़ भाषा को अनुपयोगी मानकर उसका विकास व्यक्तिवाद और भावात्मकता के आधार पर किया। उन्होंने परम्परागत शैली को विकृत, विरूप, मिश्रित तथा भावहीन माना। वर्ड्सवर्थ की मान्यता है कि काव्य भाषा जनसाधारण की भाषा का चुना हुआ रूप होने का कारण कभी–कभी गौरवान्वित होने की आकांक्षा करने वाले कवियों द्वारा प्रयुक्त भाषा से अधिक स्थायी और दर्शन प्रधान होती है। वर्ड्सवर्थ ने अपनी काव्य भाषा में उन्हीं मुहावरों, सूक्तियों, विरोधालंकारों पर्यायोक्तियों, विपर्ययों तथा अन्य काव्योचित तरीकों का सहारा लिया है, जो कि पहले से ही काव्य जगत में बहुप्रचलित तथा साधारण पाठकों के सुपरिचित थे। वर्ड्सवर्थ ने काव्य में कृत्रिमता की अपेक्षा सरल भाषा के प्रयोग पर ही विशेष बल दिया है वे काव्य भाषा और गद्य भाषा के किसी तात्विक भेद को अस्वीकार करते हुए कहते हैं कि किसी श्रेष्ठ कविता की भाषा का अधिकांश भाग अच्छी गद्य–भाषा जैसा ही होता है। किसी कविता के सर्वाधिक आकर्षक और रस प्रधान अंश की भाषा पूर्णतः वैसी ही होती है जैसी उच्चकोटि के गद्य साहित्य की भाषा। उन्होंने लिरिकल बैलेड्स के द्वितीय संस्करण की भूमिका में लिखा है कि हम निःसंकोच यह कह सकते हैं कि गद्य की भाषा और छन्दोबद्ध रचना की भाषा में न कोई तात्विक अंतर है और न हो सकता है।

वर्ड्सवर्थ ने अपने समय की पूर्ववर्ती काव्य शैली को विकृत दोषपूर्ण और चैतन्यहीन कहा है तथा अपनी काव्य शैली को ''स्वाभाविक'' माना है उसने आनंदातिरेक के लिए कविता में लय और छन्द का होना आवश्यक बताया है। कविता में छन्द नियमित और एकरूप होने चाहिए। वस्तुतः यह मान्यता है कि लय और छन्द में कविता लिखने से वह जन–सामान्य की भाषा में लिखी जा सकती है।

काव्यशैली के सम्बन्ध में उन्होंने जो आपत्तियां उठाई हैं, उनकी भाषा अत्यंत शिथिल है दूसरी तरफ काव्य में वह उन्हीं अनेक काव्योक्तियों का प्रयोग करते हैं जिनका वह पहले ही विरोध कर चुके थे। उनकी काव्य रचना भी कहीं–कहीं बड़ी

दुरूह और उलझी हुई है। भावाभास तथा वक्रोक्ति का भी प्रयोग मिलता है फिर भी वर्ड्सवर्थ ने काव्य में कृत्रिमता की अपेक्षा सरल भाषा के प्रयोग पर ही विशेष बल दिया है।

उपर्युक्त तथ्यों से यह निष्कर्ष निकलता है कि वर्ड्सवर्थ ने विज्ञान और काव्य दोनों की सौन्दर्य बोध में सहायक मानते हुए भी कवि के ज्ञान को विशेष महत्व दिया है क्योंकि वह प्रकृतज्ञान हैं जबकि वैज्ञानिक का ज्ञान उपलब्ध है। वर्ड्सवर्थ ने कविता को कृत्रिमता तथा वाह्याडम्बर की सीमित परिधि में निकालकर भावोच्छ्वासों की विशद्र भूमि पर ला खड़ा किया और उसमें भाव तत्व प्रतिष्ठा की हैं उनका सबसे बड़ा योगदान यही है कि उन्होंने काव्य भाषा में जन–साधारण के भावों को महत्व दिया।

NOTES

कॉलरिज का कल्पना सिद्धांत और ललितकला

स्वच्छन्दतावादी कवि, दार्शनिक एवं आलोचक तथा सहजात प्रतिभा के धनी सेमुअल टेलर कॉलरिज का पाश्चात्य काव्य शास्त्र में मूर्धन्य स्थान है। वे अंग्रेजी के श्रेष्ठ आलोचक हैं।

1. कल्पना सम्बन्धी सिद्धांत : कॉलरिज सभी सृजनात्मक कार्यो का श्रेय कल्पना को देते हैं। कल्पना सम्बन्धी उनकी धारणा बड़ी व्यापक और दर्शन प्रधान है। कल्पना की व्याख्या करते हुए कॉलरिज ने लिखा है कि स्पष्ट रूप से संसार में दो शक्तियां कार्य करती है। जो एक दूसरे के सम्बन्ध में क्रियाशील और निष्क्रिय होती है और कार्य बिना एक मध्यस्थ शक्ति के सम्भव नहीं है जो एक साथ सक्रिय भी है और निष्क्रिय भी।

वस्तुतः कल्पना वह शक्ति है जो बहिर्जगत और अन्तर्जगत का सफल संयोजन करती है और प्रतिबोधन और अवबोधन के अंतर को मिटाती है। जिसे बुद्धि के सहारे नहीं मिटाया जा सकता। कल्पना पदार्थों और वस्तुओं में चेतना का संचार करती है और उन्हें जीवन्त रूप में हमारे सम्मुख प्रस्तुत करती है। कॉलरिज ने कल्पना के स्वरूप को स्पष्ट करने के लिए उसे दो वर्गों में बांट दिया है– प्राथमिक कल्पना और विशिष्ट कल्पना।

प्राथमिक कल्पना : प्राथमिक कल्पना संपूर्ण मानवीय ज्ञान का मूल हेतु होने के कारण वस्तुओं का प्राथमिक ज्ञान कराती है। इसकी परिभाषा उन्होंने इस प्रकार दी है– "Power of Perceiving the objects of senser" अर्थात् इन्द्रियगोचर पदार्थों की प्रतीतानुभूति की क्षमता। उन्होंने इसे और अधिक स्पष्ट करते हुए कहा है कि प्राथमिक कल्पना जीवित एवं महत्वपूर्ण शक्ति है जिसमें हमें मानवीय पदार्थों का बोध होता है अर्थात् इन्द्रियों द्वारा जिन विभिन्न वस्तुओं का बोध होता है यह कल्पना ही

उन्हें व्यवस्था में ढालती है, अव्यवस्थित बिखरे बिम्बों को शनैः शनैः ज्ञान का रूप प्रदान करती है यह स्वाभाविक और सहज मानवीय गुण है।

NOTES

विशिष्ट कल्पना या अनुषंगी कल्पना : यह विशिष्ट लोगों में पायी जाती है। सत्यदेव मिश्र ने इसको इस प्रकार प्रस्तुत किया है– ''प्रकृति में पदार्थों के पाए जाने वाले अव्यवस्थित स्वरूप को एक निश्चित रूप देने की इस अन्तः शक्ति का अभिप्रेत प्रयोग है। प्रथम यदि रूपकार ढालने की अनभिप्रेय अन्तः शक्ति है तो दूसरी अभिप्रेय अन्तःशक्ति। कहना यह है कि गौण कल्पना प्रारम्भिक कल्पना का ही वह विकसित रूप है जिसका प्रयोग सर्जक स्वेच्छा से करता है।''

गौण कल्पना एक संयुक्त आत्मिक ऊर्जा है जिसमें मनः शक्ति अथवा आत्म शक्ति के अन्य सभी पहलू प्रत्यक्ष ज्ञान शक्ति, विचार शक्ति, संकल्प शक्ति, मनोवेग आदि सभी समाहित हो जाते हैं। इस प्रकार विशिष्ट कल्पना का कार्य दृश्यमान प्रकृति को अपनी अन्तरात्मा के अनुरूप ढालना है। इस प्रकार विशिष्ट कल्पना नव आकार देने वाली और रूपान्तरित करने वाली शक्ति है।

कल्पना का महत्व : वे कल्पना को ही काव्य का मूलाधार स्वीकार करते हैं क्योंकि विरोधी गुणों में सामंजस्य वहीं स्थापित करती हैं। डॉ. देवीशरण रस्तोगी के अनुसार ''प्रकृति के पुनः सर्जन में भी कल्पना ही सहायक होती है। कलाकार प्रकृति की अनुकृति नहीं करता क्योंकि वह जानता है कि वह प्रकृति से जीत नहीं सकता। इसलिए वह पुनःसर्जन की ओर बढ़ता है। वह प्रकृति को अधिक सुन्दर रूप में प्रस्तुत करता है। ''कॉलरिज के अनुसार कल्पना की महत्ता तथा क्षमता अपरिमित है वह कवि का अनिवार्य गुण है और कवि इसका प्रयोग उत्कर्ष के ही क्षणों में करता है।

"Imagination is a power which the artist can only use when he is at his best."

कल्पना और ललित कल्पना सम्बन्धी विचार – डॉ. तारकनाथ बाली के अनुसार– कॉलरिज ने दिवास्वप्न में बिम्बों के निर्माण करने वाली शक्ति को कल्पना कहा तथा दोनों में एक प्रकार का अन्तर माना। ललित कल्पना या फैन्सी एक ऐसी शक्ति है जिसके द्वारा चित्र–संघातों की उत्पत्ति होती है। यह पूर्व परिचित तथ्यों से ही नवीन चित्रों की उद्भावना करती है। ये उद्भावनाएं समन्वय द्वारा होती है। उनके अनुसार यह एक ऐसी शक्ति है जिसका व्यक्तिगत जीवन में दिवास्वप्न में उपयोग होता है। मगर जो किसी सार्थक आस्वाद्य बिम्ब का निर्माण नहीं कर सकती।

ललित कल्पना के विपरीत कल्पना आत्मा की एक शक्ति है जो दिव्य होने के साथ–साथ सर्जनात्मक है। रचनात्मकता उसका मूल गुण है। कल्पना द्वारा निर्मित बिम्बों में सम्बद्धता होती है, क्रम होता है, सावयविक एकता होती है और वे आस्वाद्रय

होते हैं। इस प्रकार ललित कल्पना एक निम्न स्तर की शक्ति है जो ऐसी स्मृति का रूप है जो रचनात्मक तो नहीं होती, लेकिन आस्वाद्य होती है।

NOTES

कला सम्बन्धी दृष्टिकोण : कॉलरिज के अनुसार कला बाह्य प्रकृति की मात्र अभिव्यक्ति ही नहीं है वरन कलागत अभिव्यक्ति प्रकृति की पवित्रात्मा की अभिव्यक्ति है। एक ऐसी अभिव्यक्ति है जिसका संबंध मानव प्रकृति अथवा आत्मा से होता है। उनका मत है– कला प्रकृति की पवित्रात्मा की अभिव्यक्ति है जिसमें प्रकृति और मानव आत्मा में एक बंधन की अपेक्षा की जाती है।

कला विशेष रूप से काव्य कला विरोधी और असंगत गुणों का संतुलन अथवा सामंजस्य है जैसे– सदृश का असदृश से, विचार का बिम्ब से, व्यक्ति का प्रतिनिधि से, नवीनता और ताजगी का प्राचीन और परिचित वस्तुओं से, इन असंगत और विरोधी गुणों को समन्वित करने की शक्ति निश्चित ही देश–कालातीत एवं सार्वभौम है।

कॉलरिज ने दर्शन और काव्य का सम्बन्ध स्थापित करते हुए अपने काव्य सिद्धांतों को प्रतिस्थापित किया। उनका काव्य समस्याओं के प्रति जो दृष्टिकोण था, वह साहित्यिक कम और मनोवैज्ञानिक अधिक था। वास्तव में कल्पना को उन्होंने ''रोमांटिक' काव्यधारा के अनुसार ही विश्लेषित किया है।

वस्तुतः कॉलरिज एक उच्चकोटि के कवि और गंभीर चिन्तक थे। उनकी आलोचना उनके कवि व्यक्तित्व और चिन्तक व्यक्तित्व के समन्वित प्रयास की परिणित है।

सम्भावित प्रश्न :

प्र.1. प्लेटो का काव्य सिद्धांत क्या है ?

प्र.2. अरस्तू के अनुकरण सिद्धांत का विवेचन कीजिये।

प्र.3. अरस्तू ने त्रासदी का विवेचन किस प्रकार किया है ?

प्र.4. वर्ड्सवर्थ का काव्य सिद्धांत क्या है ?

प्र.5. कॉलरिज के कल्पना सिद्धांत और ललित कला को स्पष्ट कीजिए ?

इकाई – 4

हिन्दी आलोचना की प्रमुख प्रवृत्तियां

NOTES

वस्तुतः हिन्दी में आलोचना शब्द का प्रयोग समीक्षा, समालोचना, विवेचना एवं मूल्यांकन आदि पर्याय शब्दों के रूप में अंग्रेजी शब्द क्रिटिसिज्म का रूपांतर है। क्रिटिसिज्म की मूल धातु 'क्रिटीज' है जिसका अर्थ है निर्णय करना, विवेचना करना और मूल्यांकन करना। हिन्दी में आलोचना, समालोचना या समीक्षा शब्द इसी 'अर्थ' में प्रयुक्त होते हैं।

संस्कृत में आलोचना शब्द 'लुच' धातू से बना है और 'लुच' धातु का अर्थ है– देखना। इसमें 'ल्यु' प्रत्यय जोड़कर 'लोचन' शब्द बनता है। जिसमें 'सोड्' उपसर्ग लगाने से आलोचना शब्द की व्युत्पत्ति होती है। इस प्रकार किसी कृति या रचना को सम्य्क रूप से देखना और उसका मूल्यांकन करना ही आलोचना या समालोचना है।

हिन्दी साहित्य में आलोचना की अनेकानेक परिभाषा दी गई है। पाश्चात्य विद्वान ड्राइडन का कथन है– 'आलोचना निर्णय का एक मानदण्ड है जो विचारशील पाठकों को आनन्द प्रदान करने वाली साहित्य–विशेषताओं का लेखा–जोखा करती है। आलोचना हमारे तर्क का मानदण्ड है।'

मैथ्यू आर्नल्ड ने किसी भी वस्तु के यथावत परिशीलन को आलोचना का प्रमुख ध्येय मानते हुए कहा है कि ''सर्वश्रेष्ठ विचारों–भावों की खोज करना और उनके प्रसार में योगदान देना आलोचना का महत्वपूर्ण कार्य है।''

विक्टर हूगो–

'कोई कलाकृति अच्छी है या बुरी, इसकी मीमांसा करना आलोचना का क्षेत्र है।'

आई. ए. रिचर्डस –

'आलोचना साहित्यिक अनुभूतियों के विवेकपूर्ण विवेचन के उपरांत उनका मूल्यांकन करती है।'

टी.एस. ईलियट –

'आलोचक का उद्देश्य किसी वस्तु के मूल्यों का निर्णय करना है।'

उपर्युक्त आलोचनाओं की परिभाषा के आधार पर डॉ. कृष्णदेव झारी ने यह तथ्य प्रस्तुत किए हैं–

NOTES

1. आलोचना से तात्पर्य है साहित्य रचनाओं के आनन्दमयी सौन्दर्य तथ्यों का उद्घाटन अर्थात् समालोचक द्वारा उनका प्रथमतः स्वयं अनुभव करना और फिर अपनी व्याख्या द्वारा पाठक को अनुभव करना।
2. रचना में सभी पक्षों–अंतर बाह्य का सम्यक रूप से अध्ययन करना और समय प्रभाव को परखना। किसी एक पक्ष या एकांगी दृष्टिकोण से बचना।
3. छिद्रान्वेषण ही आलोचना नहीं हैं। दोष–दर्शन भी सौन्दर्य के समर्थन हेतु होना चाहिए।
4. विचार पूर्ण व्याख्या और विश्लेषण के पश्चात आलोचना निर्णयपूर्ण मूल्यांकन करती है। साहित्य को इतिहास तथा मानव जीवन में रचना के महत्व और मूल्य को आँकती हैं।
5. यह समस्त विश्लेषण और मूल्यांकन निष्पक्ष भाव से होना चाहिए।
6. आलोचना रचनात्मक होनी चाहिए जिससे कि साहित्य–निर्माण के नियमों का समुचित उद्घाटन हो और साहित्य और साहित्यकार तथा पाठक का पथ प्रदर्शन हो।
7. आलोचना सशक्त और समर्थ अभिव्यक्ति के रूप में प्रगट होनी चाहिए।

इस प्रकार आलोचना का उद्देश्य छिन्द्रान्वेषण करना नहीं है अपितु साहित्य रचनाओं के भीतरी और बाहरी गुणों को भाव और विचारों को तथा उसके कला कौशल आदि तत्वों का निष्पक्ष विवेचन करना होता है। इस सन्दर्भ में डॉ. झारी का ये कथन पूर्णतः सत्य है– 'मानव जीवन के साथ जिस साहित्य का इतना गहरा सम्बंध है, वह अवश्य ही आलोचना का विषय होना चाहिए। जिस प्रकार शासक विधान में विधेयात्मक विपक्षी दल या ऐसे संसद–सदस्यों की आवश्यकता वांछनीय है जो अधिकारी वर्ग के कार्यों का लेखा–जोखा ले सकें ताकि शासन समाज के हितों की अवहेलना करने का साहस न कर सके। उसी प्रकार आलोचना द्वारा साहित्य के सृजन और संवर्द्धन की प्रेरणा तथा गन्दे साहित्य के उन्मूलन की दृष्टि प्राप्त होती है।'

आलोचना का उद्देश्य क्या होना चाहिए ? उसका दायित्व क्या होना चाहिए?

डॉ. सुरेश सिन्हा का कथन है – 'आलोचक और साहित्यकार दोनों के ही ऊपर महान उत्तरदायित्व है निर्माण का इसका उद्देश्य है विध्वंस का नहीं, निर्माण एवं दायित्व निर्वाह का है। इसे जीवन के उन प्रगतिशील तत्वों को चुनकर कला के माध्यम से प्रस्तुत करता है, जिससे मानव का खण्डित नहीं पूर्ण व्यक्तित्व प्रकाश में आता है।'

NOTES

इस प्रकार आलोचना को साहित्यकार की कृति में सिद्धांतों का नहीं अपितु सौन्दर्य तत्वों तथा गुणों का मूल्यांकन करना चाहिए। क्योंकि मानव के लिए यही उचित है। उपर्युक्त परिभाषाओं के आधार पर यही कहना उचित होगा कि– 'आलोचना वह तात्विक प्रक्रिया है जिसमें व्यक्ति कुछ देखने की इच्छा करे और देखने के पश्चात उसमें जो दृष्टव्य है, दूसरों को दिखा दे।'

हिन्दी आलोचना का विकास

वैसे तो रीतिकाल में ही सैद्धांतिक आलोचना के रूप में हिन्दी आलोचना या समीक्षा का बीजारोपण हो चुका था और संस्कृत काव्य शास्त्र के आधार पर हिन्दी में सैकड़ों लक्षण ग्रन्थों की रचना हुई, पर प्रयत्न में न तो मौलिकता थी न चिन्तन की गहराई। रस, अलंकार की लक्ष्मण रेखा से कोई भी बाहर नहीं आया।

भारतेन्दु युग में साहित्य और जीवन में एक नई चेतना आयी। खड़ी बोली का विकास गद्य में उपन्यास, निबंध आदि के रूप में हुआ। पत्र–पत्रिकाओं में परिचयात्मक आलोचनात्मक लेख प्रसारित होने लगे।

आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी की आलोचना भी दोषान्वेषिणी रही, क्योंकि वे मूलतः सुधारक थे। अतः आलोचना में भी उनका सुधारक रूप प्रकट हुआ है। वे व्याख्यात्मक–निर्णयात्मक, व्यावहारिक आलोचना का व्यापक स्वरूप नहीं प्रकट कर सके। द्विवेदीकाल में मिश्र बंधुओं ने कवियों को छोटा और बड़ा बताने की एक अवैज्ञानिक तुलनात्मक समीक्षा परम्परा चलाई जो सर्वथा अवैज्ञानिक और अनिश्चित ही कही जा सकती है। मिश्र बन्धुओं की अपेक्षा कुछ व्यवस्थित तुलनात्मक आलोचना प्रणाली का स्वरूप हमें पी.पद्म सिंह शर्मा में मिलता है। मिश्र बन्धुओं ने देव को बिहारी से श्रेष्ठ बताया शर्मा जी ने बिहारी को श्रेष्ठ सिद्ध किया– 'इनकी तुलनात्मक आलोचना भी सौष्ठववादी प्रभाववादी आलोचना नहीं कही गई। अपने सीमित दृष्टिकोण के कारण शर्मा जी काव्य में उदात्त तत्व के महत्व को नहीं समझ सकें।' इस प्रकार द्विवेदी युग में समालोचना की धूम तो मची किन्तु निष्पक्ष वैज्ञानिक सर्वांगीण स्वाधीन आलोचना की कमी रही।

हिन्दी समीक्षा की इस अनिश्चित दशा में आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, बाबू श्याम सुंदर दास जैसे कुछ श्रेष्ठ आलोचकों का शुभागमन हुआ। शुक्ल जी ने अपनी सूक्ष्म चिन्तन शक्ति और समर्थ समीक्षा पद्धति से हिन्दी आलोचना की काया पलट दी इस काल में आलोचना का शास्त्रीय, निर्णयात्मक और तुलनात्मक आलोचना का पूर्ण विकास हुआ। निष्पक्षता, सहृदयता, विद्वत्त, सूक्ष्म अन्तर्दृष्टि, भावुकता आदि आलोचक के सम्पूर्ण गुण तथा आलोचना के आवश्यक प्रसाधन सर्वप्रथम शुक्ल जी में ही आदर्श

रूप में दिखाई दिए। रस अलंकार आदि प्राचीन काव्यों को नवीन मनोवैज्ञानिक दीप्ति प्रदान की।

आपने स्पष्ट किया– 'केवल मनोरंजन या आस्वाद काव्य का उद्देश्य नहीं है अपितु हमारे रागों का परिष्कार करके हृदय प्रचार द्वारा चराचर सृष्टि के साथ रागात्मक सम्बन्ध स्थापित कराना ही काव्य का उद्देश्य है।' आपकी सम्पूर्ण समीक्षा काव्य पर केन्द्रित रही। फिर भी आपने हिन्दी साहित्य के इतिहास में निबंध, आलोचना, उपन्यास, कहानी आदि पर अपने विचार प्रकट किए।

NOTES

श्री शुक्ल जी ना तो रूढ़ तंत्रात्मक निर्णयवादी आलोचना के पक्ष में थे, न कोरी भावुकता प्रधान प्रभाववादी आलोचना को उचित मानते थे। 'वे ऐसी व्याख्यात्मक निर्णयात्मक समीक्षा के पक्ष में थे जो, ऐतिहासिक, मनोवैज्ञानिक आदि अन्य समीक्षा प्रणालियों को सहयोगी बनाती हुई कवि की समस्त अन्तर्वृत्तियों की सूक्ष्म छानबीन करें। ऐसी व्याख्यात्मक आलोचना आलोच्य रचना में से ही उसकी आलोचना के मान निकालती है।'

वर्तमान काल में हिन्दी आलोचना का बहु–विध–विकास हुआ है। आलोचना में आज विभिन्न प्रकार की प्रवृत्तियां दिखाई दे रही है। जो निम्नानुसार हैं –

शास्त्रीय आलोचना– शास्त्रीय पद्धति पर किसी कृति की आलोचना करना शास्त्र प्रधान आलोचना कहलाती है। पुनरुत्थान काल में शास्त्रीय आलोचना प्रणाली की भी स्थापना हुई। इस काल में मध्ययुगीन काव्य, नाटक आदि की अवहेलना की गई और अरस्तू, होरेस, क्विन्टीलियन आदि को महत्व प्रदान कर उनके द्वारा स्थापित किए गए शास्त्रीय नियमों से प्रेरणा ग्रहण की गई। इस दृष्टि से अरस्तू के ग्रंथ 'पोइटिक्स' का उल्लेखनीय स्थान है। इस प्रकार प्राचीन रचनाओं से प्रेरणा एवं आदर्श का अनुकरण कर काव्य मीमांसा संबंधी ग्रन्थों की रचना हुई जिसके फलस्वरूप शास्त्रीय परम्पराओं का अनुगमन करने और उसी के आधार पर रचनाओं के मूल्यांकन करने की प्रवृत्ति का जन्म हुआ। काव्य में इस प्रवृत्ति के अनुसार कला पक्ष पर विशेष जोर दिया जाने लगा और उक्ति–वैचित्रण, रस अलंकार, छन्द, पिंगल, शब्द चमत्कार, वाक्य योजना आदि बाह्य पक्षों को काव्य की श्रेष्ठता की कसौटी पर स्वीकार कर लिया गया।

भारत में शास्त्रीय आलोचना पद्धति का प्रचार एवं प्रसार प्राचीनकाल से ही है। हिन्दी में आलोचना की यह प्रवृत्ति प्रस्तुत करने का श्रेय महावीर प्रसाद द्विवेदी एवं मिश्र बन्धुओं को है। इस आलोचना पद्धति के अन्तर्गत महावीर प्रसाद द्विवेदी कृत 'विक्रमांकदेव चरितचर्चा', 'नैषध चरित' और मिश्र बन्धुओं की 'हमीर छठ' की आलोचना मुख्य है। इस आलोचना पद्धति के विकास में अरस्तू, प्लेटो, होरेस और लांगजाइनस आदि विचारकों का उल्लेखनीय स्थान है। इस आलोचना द्वारा कलापक्ष

पर अधिक बल दिए जाने के कारण आलोचना रूढ़िमुक्त शास्त्रीयता पर आधारित हो गई।

NOTES

तुलनात्मक आलोचना

तुलनात्मक समीक्षा में दो कवियों या काव्य प्रवृत्तियों का तुलनात्मक अध्ययन किया जाता है। दोनों की समानताओं और भिन्नताओं का सूक्ष्म निरूपण किया जाता है। आलोचक दोनों की रचनाओं का गंभीर अध्ययन करके ही उनके विविध पक्षों पर तुलनात्मक विचार करता है। इस आलोचना के मूल में यह प्रवृत्ति कार्य करती है कि किसी रचना का वास्तविक महत्व तभी प्रमाणित होता है, जब उसी के समान दूसरी रचना की तुलना की जाए। इस आलोचना प्रणाली में संतुलित दृष्टि का होना अत्यंत आवश्यक है। क्योंकि यदि इस आलोचक पूर्वाग्रहों से अपने को मुक्त नहीं कर पाता है तो वह आलोचना के साथ न्याय नहीं कर सकेगा।

भिन्न–भिन्न कालों और देशों में कवियों की तुलना उनके देश–काल की भिन्न परिस्थितियों का ध्यान रखकर ही तुलना करनी चाहिए। निष्पक्षता और समान सहानुभूति से की गई सर्वांगीण समीक्षा ही तुलनात्मक समीक्षा को वैज्ञानिक बनाती है। इस आलोचना में व्युत्पत्ति पर विशेष ध्यान दिया जाता है। इसके लिए आलोचकों को विभिन्न कालों की युगीन चेतना, साहित्यिक प्रवृत्तियों, मानसिक एवं आध्यात्मिक विकास सूत्रों का आकलन एवं चिन्तन करना पड़ता है। जब तक आलोचना का ज्ञान विशद एवं व्यापक धरातल पर निर्मित नहीं होगा, वह इस प्रकार की आलोचना करने में सफल नहीं हो सकेगा और न आलोचना के साथ न्याय कर सकेगा। हिन्दी में इस आलोचना का प्रारंभ आचार्य पद्मसिंह कृत बिहारी सतसई की आलोचना से प्रारंभ हुआ। आज तो आलोचना की यह प्रवृत्ति अधिक दिखाई दे रही है।

ऐतिहासिक आलोचना

इस आलोचना प्रणाली का आधुनिक युग में खूब प्रचार–प्रसार हुआ है। साहित्य वस्तुतः जीवन की आलोचना करने के साथ ही समकालीन युग की परिस्थितियों से भी घनिष्ठ रूप से प्रभावित होता है। व्यक्ति इन युगीन परिस्थितियों से अपने को पूर्णतया अलग नहीं कर सकता है क्योंकि वह भी एक प्रकार से युग सापेक्ष होता है और समकालीन परिस्थितियों का भी साहित्य पर गहरा प्रभाव पड़ता है। साहित्य और युग के मध्य परस्पर इन संबंधों के स्पष्टीकरण करने का कार्य ऐतिहासिक आलोचना करती है।

ऐतिहासिक आलोचना में रचना एवं कवि के बाह्य प्रेरणा स्त्रोतों की खोज की जाती है। इस आलोचना में प्राचीन लेखकों के जीवन वृत्त की विवेचना, उनकी

जन्म–मृत्यु की तिथियों तथा रचनाकाल का निर्धारण आदि कार्य किए जाते हैं। यह समीक्षा प्रणाली साहित्य रचनाओं के आलोचना से बहुत कम सम्बन्ध रखती है, क्योंकि इसमें रचनाओं के गुण–दोष प्रकाशन का प्रयत्न नहीं के बराबर होता है। श्री एस.पी. खत्री ने आलोचना की इस प्रवृत्ति के बारे में लिखा है– ''ऐतिहासिक आलोचना प्रणाली हमें इस पर विवश करेगा कि हम भारतेन्दु युग की अनेक विचार धाराओं को पहले परखें, राष्ट्रीयता का बीज क्यों और कैसे पड़ा ? भारत की राजनीति तथा आर्थिक दुर्व्यवस्था का कैसा दृश्य था ? सामाजिक रूढ़िया कौन–सा कार्य कर रही थीं ? आदि। इस युग के अनुसंधान में जब तक आलोचक लगा रहेगा भारतेन्दु की काव्य कला तथा नाटककला एक ओर पड़ी रहेगी और अनुसंधान के पश्चात केवल यही तथ्य हाथ लगा कि अमूमन साहित्यिक धारा के प्रवाहित करने में भारतेन्दु जी का बहुत अधिक श्रेय था।' इस युग के पोषकों ने युग की आत्मा का परिचय तो दिया लेकिन कलाकृति की ओर कम आकर्षित किया। साथ ही इस समय युग विश्लेषण को तो प्रधान तत्व मिला, लेकिन कलाकार की कृति गौण रूप में रही।

NOTES

इस आलोचना प्रणाली का प्रयोग मुख्य रूप से अंग्रेजी साहित्य के प्रमुख इतिहासकार टेन ने किया है। टेन ने साहित्य के अध्यापन के लिए तीन तथ्यों का विवेचन आवश्यक माना है– 'जाति, परिवेश और समय बिन्दु।' टेन के इस सिद्धांत के फलस्वरूप साहित्यालोचन की नवीन भाव–भूमियां प्राप्त हुई और युगीन परिस्थितियों में जातीय चेतना की पृष्ठभूमि में साहित्य का सन्तुलित अध्यापन करने की प्रेरणा प्राप्त हुई। टेन के अनुसार– युगीन चेतना में निरंतर परिवर्तन होता रहता है, क्योंकि वह स्थिर नहीं बल्कि गतिशील है।

हिन्दी में ऐतिहासिक आलोचना की प्रवृत्ति का जन्म मध्ययुग में भारतेन्दु हरिशचन्द्र के नेतृत्व में हुआ और उसका विकास आगे चलकर पं. महावीर प्रसाद द्विवेदी एवं मिश्र बन्धुओं ने किया। बद्रीनारायण चौधरी 'प्रेमघन', कृत, ''आनंद कादम्बिनी' की शुक्ल जी द्वारा की गई समीक्षा पद्धति का श्रेष्ठ उदाहरण है। आधुनिक युग में आलोचना की इस प्रवृत्ति का विकास डॉ. लक्ष्मी सागर वैष्णव एवं डॉ. हजारी प्रसाद द्विवेदी जी द्वारा हुआ।

प्रभाववादी आलोचना

प्रभाववादी आलोचना में कवियों या उनकी रचनाओं द्वारा मन पर पड़े प्रभाव का ही वर्णन होता है। आलोचना की इस पद्धति में आलोचक केवल कृति के प्रभाव का वैयक्तिक वर्णन करता है। अर्थात् आलोचक कवि की कल्पना, भावना आदि समस्त विशेषताओं के स्थान पर अपनी रुचि के अनुसार अपनी भावानुभूति और कल्पना शक्ति का परिचय देता है। आलोच्य ग्रन्थ की अपेक्षा इसमें आलोचक की

प्रधानता हो जाती है। क्योंकि आलोचना इसमें व्यक्तिगत रुचि को अत्यधिक आश्रय देता है। इस आलोचना पद्धति में साहित्य की प्रेषणीयता को अधिक महत्व दिया जाता है।

NOTES

इस आलोचना में आलोचक स्वतंत्र दृष्टि कोण अपनाता है और किसी भी प्रकार का नियंत्रण स्वीकार नहीं करता। डॉ. सुरेश सिन्हा ने इस आलोचना पद्धति के सन्दर्भ में लिखा है– 'इसमें समालोचक कोई निर्णय नहीं देता, वरन आलोच्य कृति का मन पर पड़ने वाले प्रभाव को बुद्धिवादी रसानुभूति की प्रक्रिया के माध्यम से अभिव्यक्त कर देता है।'

मनोविश्लेषणवादी आलोचना

फ्रायड, एडलर और जुंग के मनोविश्लेषण सम्बन्धी सिद्धांतों का जितना प्रभाव साहित्य की अन्य विधाओं पर पड़ा है उतना ही प्रभाव आलोचना के स्वरूप पर भी पड़ा है। उसी के परिणाम स्वरूप मनोविश्लेषणवादी आलोचना की इस प्रवृत्ति का विकास हुआ। यह आलोचना रचना के पात्रों की मनःस्थितियों एवं अन्तःप्रेरणाओं का मनोविश्लेषण करती है। डॉ. सिन्हा के अनुसार– 'कलाकार और कृति को निजी संस्कार, मानसिक और बौद्धिक विकास का उसकी रचनाओं में कहां तक प्रतिफल हुआ है इसका भी अध्ययन करती है।'

मनोवैज्ञानिक समीक्षा पद्धति मुख्यतः कला के मनोवैज्ञानिक निर्माण से सम्बन्ध रखती है, समीक्षा मूल्यों से इसका कोई सीधा संबंध नहीं होता है। फ्रायड आदि मनोवैज्ञानिकों ने साहित्य कला को मानव की दमित वासनाओं और कुंठाओं का चेतन गत उन्नयन माना है। इस प्रकार फ्रायड ने साहित्य को कलाकार की दमित वासनाओं का परिणाम बताकर मनोविश्लेषणवादी आलोचना का मार्ग प्रशस्त किया। जिसमें वैयक्तिव मनोविज्ञान का अध्ययन किया जाता है। इन दमित वासनाओं के संदर्भ में मनोविश्लेषण वादी आलोचक इलाचन्द्र जोशी का कथन है– 'ये दमित वासनाएँ ऐसी दबी पड़ी रहती है कि फिर आसानी से ऊपर नहीं उठ पाती है। पर बीच–बीच में जब वे शेषनाग के फनों की तरह आंदोलित हो उठती हैं, तब हमारे सचेत मन को भूकम्प के प्रचण्ड प्रवेग से हिला देती है।' ऐसे ही अवसरों पर कलाकारों का हृदय अपने भीतर किसी अज्ञात व्यक्ति की प्रेरणा का अनुभव करके कलात्मक रचना के लिए विकल हो आता है।

सौन्दर्य शास्त्रीय आलोचना

इस आलोचना प्रणाली में आलोचन कला कृतियों के सौन्दर्य का उद्‌घाटन करता है। रचना में अलंकार भाव, उक्ति वैचित्र्य आदि का जो चमत्कार या विलक्षण

प्रयोग दिखाई दिया उसी की व्याख्या आलोचक करता है। इस आलोचना में कवि की कल्पना शक्ति को महत्व दिया जाता है और यह स्वीकार किया जाता है कि काव्य का उत्कर्ष सौन्दर्य कल्पना पर आधारित है। इस आलोचना में कल्पना की क्रीड़ा और सौंदर्य चित्रण के आग्रह में भावों की उदात्तता और जीवन के सांस्कृतिक मूल्यों की बात उपेक्षित रही। आलोचक मुक्त शैली में सूक्ष्म सौन्दर्य को देखने का प्रयास करता है और कला कृति की समीक्षा सौन्दर्य चित्रण के आधार पर की जाती है। इसमें कला को वैज्ञानिक, व्यावहारिक एवं नैतिक जगत से सर्वथा स्वतंत्र माना जाता है। सौन्दर्यानुभूति से उत्पन्न होने वाले आनंद को काव्य की कसौटी माना जाता है। पश्चिम में स्वच्छन्दतावादियों या कलावादियों ने इस आलोचना को प्रश्रय दिया। हिन्दी में पद्मसिंह शर्मा की आलोचना इसका उदाहरण उपस्थित करती है।

NOTES

व्यक्तिवादी आलोचना

आलोचना की यह प्रवृत्ति लेखक के व्यक्तित्व पर विशेष ध्यान देती है। इस आलोचना के जन्म दाता अंग्रेजी कवि और लेखक जान ड्राइडेन माने जाते हैं। इसमें समकालीन, सामाजिक, सांस्कृतिक एवं राजनीतिक परिस्थितियों को ध्यान में रखते हुए कलाकार के व्यक्तित्व की माप की जाती है। इस प्रणाली के प्रतिपादन में आलोचकों ने यह प्रतिपादित किया कि जब तक किसी लेखक के जीवन वृतान्तों से हम पूर्णतया परिचित न हो तब तक आलोच्य कृति के साथ पूर्ण न्याय नहीं किया जा सकता है, क्योंकि कवि या लेखक जो जीवन जीता है उसका प्रभाव उसकी रचनाओं पर गहरे रूप में पड़ता है। इस आलोचना प्रणाली में कला तथा कलाकार की विषमता पूर्ण परिस्थितियों का समाहार होता है और उनका समाधान समन्वयात्मक पृष्ठभूमि पर प्रस्तुत किया जाता है। व्यक्तिवादी आलोचना, साहित्य की कसौटी पर एकांगी कही जा सकती है। क्योंकि इस आलोचना में समाज, राष्ट्र एवं जन कल्याण का भाव तिरोहित रहता है। ऐसी स्थिति में रचना का वास्तविक मूल्यांकन संदिग्ध हो जाता है।

वैज्ञानिक आलोचना

इस आलोचना का जन्मदाता फ्रांसीसी आलोचक ब्रनेतियर माना जाता है उसने विज्ञान के निश्चित एवं अपरिवर्तित नियमों की भांति आलोचना के नियमों को निर्धारित किया। इस आलोचना प्रणाली में समर्थकों ने साहित्य का विभाजन अनेक वर्गों में किया। इस प्रणाली में विद्वान मूल्यांकन में तर्क के प्राधान्य को स्वीकार करते हैं। यद्यपि आलोचना का संबंध कला से भी होता है अतः विद्वानों ने आलोचना को कला और विज्ञान दोनों से जोड़ा। वैज्ञानिक आलोचना प्रणाली का प्रधान उद्देश्य

NOTES

यह था कि आलोचक द्वारा किया जाने वाला निर्णय व्यवस्थित ज्ञान द्वारा समर्थित हो। यह प्रणाली अनर्थक एवं आवेगपूर्ण बातों की अभिव्यक्ति के विरुद्ध है। किन्तु कोई भी वैज्ञानिक प्रणाली साहित्य पर ज्यों की त्यों आरोपित नहीं की जा सकती। क्योंकि ऐसा करने से साहित्य का स्थान गौण हो जाएगा और विज्ञान प्रमुख स्थान प्राप्त कर लेगा। इस प्रणाली में अनुसंधान का महत्व होता है अर्थात ऐसे नए तथ्यों की खोज करना जिनसे साहित्य और समाज अपरिचित होता है। प्राप्त नवीन तथ्यों को वैज्ञानिक ढंग से प्रस्तुत करने में इस प्रणाली की सफलता अन्तर्निहित रहती है।

वस्तुतः देखा जाए तो साहित्य और विज्ञान के स्वरूप में तात्विक अंतर होते हुए भी दोनों में अत्यंत घनिष्ठ सम्बन्ध है। आज का युग विज्ञान का युग है नित्य नए आविष्कार हो रहे हैं और हमारा समाज तथा मानवीय चेतना इन आविष्कारों से अछूते नहीं है। साहित्य विज्ञान से प्रेरणा लेकर अपने को अधिकाधिक तर्कसंगत और स्वाभाविक बनाता है। फिर हृदय के भावनात्मक एवं कल्पना तत्व, तर्क और बुद्धि का सहारा लेकर साहित्य का सृजन करता है।

समाजशास्त्रीय आलोचना

समाजशास्त्रीय आलोचना में युग की चेतना को गति मिलती है। इस कसौटी पर वही आलोचना श्रेष्ठ मानी जाती है जो समाज के प्रगतिशील तत्वों को उभारती है। गतिशीलता के ये तत्व मार्क्स के सिद्धांतों से प्रभावित होते हैं। समाजवादी आलोचक कवि की सामाजिक और राजनीतिक चेतना का ही आकलन करता है और अन्य बातों को यह गौण समझता है।

साहित्य और समाज का सम्बन्ध अटूट है। यही कारण है कि कलाकार या साहित्यकार का मानव से घनिष्ठ सम्बन्ध होता है। वह मानव से जुड़ी विभिन्न समस्याओं को अपनी अनुभूति का विषय बनाता है। मानव समाज से भिन्न कला और साहित्य का कोई अस्तित्व नहीं होता है क्योंकि सृजन स्वप्न लोक में नहीं अपितु युग जीवन के यथार्थवादी धरातल पर होता है। तभी आलोचक इस साहित्य के साहित्यिक मूल्य को स्वीकार करेगा।

मार्क्सवाद के तत्वों से प्रभावित होने के कारण यदि कवि या साहित्यकार समाजवादी तत्वों के साथ अर्थतंत्र को भी साथ लेता है और मानवीय संवेदनाओं के बिन्दुओं को अनदेखा कर देता है तो उसकी आलोचना का एकांगी होना स्वाभाविक है। डॉ. रामविलास शर्मा, डॉ. प्रकाशचन्द्र गुप्त आदि आलोचक इसी प्रकार के प्रगतिवादी आलोचक है। इस संदर्भ में डॉ. सुरेश सिन्हा का कथन है– 'प्रगतिशीलता से प्रभावित इस प्रगतिवादी समीक्षा पद्धति में साहित्य की श्रेष्ठता के मूल्यांकन के

स्वर की माप इस आधार पर की जाती है कि वह सामूहिक भावों की अभिव्यक्ति कर सकने में सफल हो पाया है या नहीं।

समाज के संघर्ष को प्रोत्साहन देकर पूंजीवादी शोषण के नाश करने की प्रकृति तथा सामाजिक विकास में सहायक सामाजिक और मानवीय वे तत्व, जिन्होंने साहित्य में इन दोनों तत्वों की पूर्ण प्रतिष्ठा की हो वह साहित्य समाजशास्त्री आलोचना का आधार है।'

NOTES

इस प्रकार समाज शास्त्रीय आलोचना सचेतन रूप में समाज को बदलने वाले साहित्य की सृष्टि की ओर लेखक का ध्यान आकर्षित करती है और समाज पर पड़ने वाले कल्याणकारी और अकल्याणकारी प्रभावों की माप करती है साथ ही सृजन को सामाजिक और व्यावहारिक धरातल की ओर प्रेषित करती है।

शैली वैज्ञानिक आलोचना

वैज्ञानिकों ने साहित्य के एक अन्य पक्ष शैली वैज्ञानिकता पर भी अपना चिन्तन प्रस्तुत किया है तो दूसरी ओर इसके साहित्यिक और व्यावहारिक पक्ष पर भी पर्याप्त चिन्तन किया है। साहित्य के क्षेत्र में विज्ञान का सहारा लेकर प्रस्तुत किए गए अध्ययनों को पूर्णतः स्वीकार नहीं किया गया क्योंकि साहित्य का सम्बन्ध मानव और समाज से होता है। 'शैली वैज्ञानिक' अध्ययन की विशेषता यह है कि यह किसी वार्तालाप या पाठ का विश्लेषण भाषा को आधार मान कर सकता है। क्योंकि भाषा सम्प्रेषण का साधन मात्र न होकर स्वयं साध्य होती है, और अध्येता का केन्द्र बिन्दु होती है। इस प्रणाली का सम्बन्ध एक ओर वक्ता/लेखक के कथ्य की अभिव्यक्ति से है, तो दूसरी ओर श्रोता/पाठक के लिए उसका सम्प्रेषणीय होना भी महत्वपूर्ण है। इस पद्धति में आलोचक तार्किकता की भूमिका पर भावात्मकता का अध्ययन करता है। इस आलोचना में तुलनात्मक की महत्ता प्रतिपादित की जाती है।

डॉ. श्रीवास्तव ने शैली वैज्ञानिक के सन्दर्भ में स्पष्ट किया है– 'विज्ञान सम्मत अनुभव संसार को अभिव्यक्त करने वाली तर्क भाषा शुद्ध रूप में प्रतीकात्मक होती है। उसके विपरीत कला सम्मत अनुभव संसार को अभिव्यक्त करने वाली काव्य भाषा प्रतीकात्मक होने के साथ–साथ बिम्बपरक की होती है। यह शैली मनुष्य के निजी और जातिगत अनुभवों को तीव्र गत्यात्मक शक्ति एवं आंतरिक अनुभूति क्रियात्मक प्रक्रिया से परिचालित होती है।'

शैली वैज्ञानिक तर्क के साथ मानवीय, सामाजिक और भाषा की सम्प्रेषणीयता का पूरा ध्यान रखकर साहित्य की आलोचना करता है। कुछ विद्वानों ने साहित्य का विश्लेषण शैली वैज्ञानिक पद्धति से करने पर अपना विरोध इन शब्दों में प्रकट किया।

NOTES

शैली वैज्ञानिक साहित्य का विवेचन मात्र भाषागत विशेषताओं के आधार पर करने में समर्थ होते हैं। जबकि साहित्यकार साहित्य के सभी अंगों–भाषिक एवं भाषेतर, का मूल्यांकन परीक्षण करता है।

वस्तुतः देखा जाए तो यह टिप्पणी समीक्षा के क्षेत्र में अति आत्मसंस्कारवाद के कारण उत्पन्न हुई है। जबकि शैली वैज्ञानिक वस्तुनिष्ठ मूल्यांकन का पक्षधर है। डॉ. रवीन्द्र श्रीवास्तव का कथन है– 'आलोचना स्वयं में एक अनुशासन है, वह एक टेक्नीक है जो अपनी सिद्धि के लिए एक निश्चित कार्यप्रणाली का विकास करती है। वस्तुतः आलोचना को वैज्ञानिक बनाने का अर्थ इस कार्यप्रणाली को वैज्ञानिक बनाना है। अतः जब आलोचना की टेक्नीक और उस टेक्नीक की वैज्ञानिकता की बात उठती है तो उसका मतलब मुख्यतः साहित्य से है, उस कृति विशेष से हैजिसका अध्ययन आलोचक को साध्य रहता है और उस अध्ययन के लिए अपनाई गई उस कार्य प्रणाली से है जिसके सहारे वह साहित्यिक विशिष्टताओं में प्रकाश डालता है। इस प्रकार शैली वैज्ञानिकता वह टेक्नीक है जो साहित्य का परीक्षण करती है। यद्यपि यह परीक्षण आलोचक कई बिन्दुओं को लेकर करता है– जैसे परिस्थितियाँ, प्रभाव, दर्शन, चिन्तन आदि।

शैली विज्ञान के मूल में यह प्रेरणा रही है कि कृति का अपने भीतर से ही मूल्यांकन हो और वह मूल्यांकन वस्तु निष्ठ हो, भावात्मक नहीं। डॉ. शर्मा ने आज आलोचना की इसी पद्धति पर जोर दिया है। आगे उनका कथन है– 'विपरीत सन्दर्भों– देशकाल, वातावरण विभिन्न प्रभाव, दर्शन, वाद, चिंतन आदि के आधार पर किया गया विश्लेषण– विवेचन सार्वभौम हो सकता है ?' अतः आलोचना वस्तुनिष्ठ होनी चाहिए भावात्मक नहीं।

सम्भावित प्रश्न :

1. हिन्दी आलोचना क्या है ? उसकी प्रवृत्तियों को स्पष्ट कीजिए ?
2. विभिन्न विद्वानों ने हिन्दी आलोचना की क्या परिभाषाएं दी हैं ?
3. हिन्दी आलोचना की विभिन्न प्रवृत्तियों का संक्षेप में वर्णन कीजिए ?
4. हिन्दी आलोचना के महत्व को प्रतिपादित कीजिए।

इकाई–5

आलोचना का स्वरूप एवं प्रकार्य

NOTES

मैथ्यू अर्नाल्ड के काव्य–सिद्धांत की विवेचना :

हिन्दी साहित्य में जो स्थान आचार्य शुक्ल का है वही स्थान अंग्रेजी समीक्षा में अर्नाल्ड का है। दोनों ने मानव जीवन को महत्व दिया है। जीवन के सिद्धांत को ही समीक्षा के सिद्धान्तों के रूप में रूपायित किया है। साहित्य जीवन की अभिव्यक्ति है, अतः साहित्य का प्रयोजन वही होना चाहिये जो जीवन का है। 'जीवन एक पहेली है' इसे सभी जानते हैं। इस पहेली के रहस्य को जानने के लिए अथवा उसके उद्घाटन के लिए प्रतिभावान व्यक्तित्व की अपेक्षा है। इन दोनों समीक्षकों के सिद्धान्त इसी जीवन की आधार–भूमि पर अवस्थित है।

वास्तव में अर्नाल्ड का युग 19वीं शती के इंग्लैण्ड का युग था। अर्नाल्ड के अनुसार उनके समकालीन समाज में वैज्ञानिक विकास तथा भौतिक समृद्धि के कारण जीवन में असन्तुलन एवं असमानता का प्रवेश हुआ। समाज वर्गों में विभाजित हो गया तथा प्रत्येक वर्ग स्वाभाविक परिष्कृत जीवन से अलग होकर विघटित एवं संकुचित हो गया। इस असमानता से उच्च और भौतिकवादी हो गया, मध्यम वर्ग क्षुद्र बन गया तथा निम्न वर्ग में पाशविकता आ गई और भी वे लिखते हैं–

''आज के युग में असीम विभ्रम फैला हुआ है। विविध परामर्श देने वाले असंख्य एवं संभ्रम में डाल देते है।''

इस प्रकार अर्नाल्ड का काल संक्रान्ति का काल था। मैथ्यू अर्नाल्ड स्वभाव और कर्म से सर्वप्रथम आलोचक हैं इसके बाद कवि। अर्नाल्ड ने समाज, शिक्षा, धर्म, साहित्य और संस्कृति के विभिन्न पक्षों से सम्बद्ध समस्याओं को अपने साहित्य को विषय बनाया। वे साहित्य को जीवन की आलोचना कहते हैं। उन्होंने जीवन में राग तत्व तथा बुद्धि तत्व को समान महत्व दिया था। यही कारण रहा कि उनकी दृष्टि में आलोचना का महत्व कविता से किसी भी प्रकार कम नहीं है। उन्होंने अपने युग के कवियों को परामर्श दिया था कि वे शेक्सपीयर का आदर्श ग्रहण न कर प्राचीन यूनानी साहित्यकारों का आदर्श ग्रहण करें। क्योंकि उनमें मार्गदर्शन की क्षमता कुछ अधिक है।

पाश्चात्य समीक्षक मरे के शब्दों में :– **''कला जीवन की सजगता है, आलोचना कला की सजगता है।''**

काव्य एवं उसका यथार्थ : काव्य के विषय में अर्नाल्ड का दृष्टिकोण पूर्णतया यथार्थवादी रहा है वे कविता के स्वरूप को उपवसित करते हुए कहते हैं कि कविता का जीवन से गहन सम्बन्ध है, वह जीवन से बड़ी गहराई के साथ सम्बन्धित है कि उसे जीवन की समीक्षा कहना सर्वाधिक उचित होगा।

Poetry is the criticism of life, under the conditions fixed for such a criticism by the laws of Poetic truth and Poetic Beauty.

NOTES

अर्नाल्ड कविता का प्रमुख उद्देश्य मनोरंजन ही नहीं मानते अपितु उनका कहना है कि कविता सहृदय के मन को स्फूर्त एवं आह्यारित करती है उनकी दृष्टि में वही कविता श्रेष्ठ है, जो मानव को पोषित और आनन्दित करती हो। जो कविता नैतिक धारणाओं का खण्डन करती है, वह मानो जीवन का ही खण्डन करती है।

साहित्य में समीक्षा का महत्व : साहित्य सृष्टि समीक्षा की अवहेलना करते आये हैं। अर्नाल्ड ने सृजनात्मक क्षमता और समीक्षात्मक शक्ति की विवेचना करते हुए समीक्षा शक्ति की अनिवार्यता और उपादेयता पर विशेष प्रकाश डाला है। इन्होंने समीक्षा कार्य को सृजनात्मक शक्ति का ही कार्य माना है। आलोचक के तीन गुण माने हैं।

(1) पढ़ना, समझना और वस्तु के यथार्थ रूप को देखा।

(2) जो सीखा है उसे दूसरों के प्रति प्रेषित करना ताकि उत्तम भावनाओं का प्रसार हो सके। वह कार्य धर्म प्रचारक की तरह उत्साहपूर्ण और कर्मठता से युक्त होना चाहिए।

(3) रचनात्मक शक्ति की क्रियाशील के लिए उपयुक्त वातावरण तैयार करें।

आलोचक का कर्तव्य है कि वह सत्य की प्रतिष्ठा करे और पूर्णता के लक्ष्य तक पहुँचाने वाले विचारों का प्रचार करे। अर्नाल्ड ने आलोचक के लिए उनका निष्पक्ष होना अनिवार्य माना है।

उत्तम काव्य की अवधारणा : अर्नाल्ड के अनुसार, काव्य के अभाव में हमारा ज्ञान अधूरा रहता है। वे इस विषय में अपने विचार प्रकट करते हुए कहते हैं– ''मानव जाति को इस तथ्य का निरन्तर बोध होता रहेगा कि जानकारी के लिए ढांढस के लिए अपने संवर्धन के लिए उसे काव्य पर निर्भर रहता है।'' वे अपनी कविताओं के संग्रह की भूमिका में कहते हैं, प्राचीन यूनानी साहित्य श्रेष्ठ है, अतः नए कवियों को प्राचीन यूनानी कवियों का अनुकरण करना चाहिए उनके अनुसार प्राचीन साहित्य की तीन निम्नलिखित विशेषताएँ हैं :–

(अ) उत्कृष्ट कृत्य को काव्य का विषय बनाना।

(ब) स्पष्ट प्रवचन।

(स) अभिव्यंजना को महत्व प्रदान करना।

उत्तम काव्य रचना के लिए यह भी आवश्यक है कि कवि उत्कृष्ट विषय का चयन तथा उसे उपर्युक्त शैली में सामने रखे, जिससे वह आनंद प्रदान कर सके, उसका यह सम्पूर्ण रचना के विविध अंगों की आंगिक आन्विति से निकलना चाहिए।

कार्य व्यापार का चयन : अभिजात्यवादी अर्नाल्ड का आग्रह काव्य के सन्दर्भ पूर्णतः स्पष्ट है। उनका अनुभव कार्य की प्राचीन के प्रति ही अधिक है।

"A great human action of a thous and year ago is more interesting to than a smaller human action of today."

काव्य कलानुभूति : मानव जीवन के पुनराख्यान के लिए मानव जाति प्रारम्भ से कविता का आश्रय लेती रही है। काव्य प्रभाव के बिना वैज्ञानिक जीवन की उपलब्धि भी आगे रहेगी क्योंकि कविता का सम्बन्ध किसी न किसी मूल विचार से होता है। कविता भावों को जोड़ती है। यद्यपि विज्ञान की उपलब्धियों का महत्व सभी जगह मान्य है। अर्नाल्ड ने यह उल्लेख किया है कि – ''जैसे जैसे समय बीतेगा, मानव इस सत्य का आविष्कार करेंगे कि हमें जीवन की व्याख्या के निमित्त जीवन में परितोष एवं आधार प्रदान करने के लिए काव्य की ओर उन्मुख होना पड़ेगा। काव्य के बिना हमारा जीवन अधूरा ही प्रतीत होगा।''

NOTES

काव्य में चिन्तन का महत्व होता है, क्रिया का नहीं है, जबकि विज्ञान में क्रिया का जितना महत्व होता है, उतना चिन्तन का नहीं। काव्य में पाई जाने वाली चिन्तनशीलता का कारण विचार होता है, क्योंकि वही यथार्थ एवं महत्वपूर्ण होता है।

कॉलरिज के विषय में अर्नाल्ड कहते हैं –

"Poet and Philosopher wrecked in a nist of opium."

आशय यह है कि वह एक ऐसा कवि और दार्शनिक है जो असमी की धुंध में खो गया है। सारांशतः कविता के लिए अनिवार्य नैतिक शब्द को अर्नाल्ड विशेष व्यापार के अर्थ में लेते हैं।

मानव को किस प्रकार सुखी बनाए जाए, इससे बृहतर और गम्भीर अन्य कोई समस्या नहीं है। वास्तविक कला वह है, जो परम आनंद की सृष्टि करे। अर्नाल्ड इसी कसौटी पर त्रासदी व कामदी का असदप्रदायक कहते हैं।

काव्य–शैली : अर्नाल्ड का शैली सम्बन्ध विचार दो मुखी है। एक जगह वे काव्यविद्या की शैली मानकर गद्यशैली एवं पद्य शैली का अन्तर मानते हैं, तो दूसरी ओर कवि कथ्य की रचनात्मक संरचना की शैली कहते हैं, वे लिखते हैं –

The Prose can not have the power of verse.

अर्नाल्ड ने पद्य शैली की चार प्रमुख विशेषताएं बताई हैं –

(1) उक्तियों में कसावट

(2) शुद्ध भाषा का प्रयोग

(3) भावों की स्पष्टता

(4) संगीतात्मकता

अर्नाल्ड ने गद्य शैली में चार प्रमुख विशेषताएं हैं –

(1) नियमिता

(2) एकरूपता

(3) सटीकता

(4) सन्तुलन

NOTES

लास्ट वर्ड्स में उत्कृष्ट शैली की परिभाषा देते हुए मैथ्यू अर्नाल्ड लिखते हैं– ''यह शैली काव्य में तब आती है, जब काव्यात्मक मनोवृत्ति वाला उच्चादर्शवाद व्यक्ति किसी गम्भीर विषय का सरलता एवं स्वच्छता के साथ निरूपण करता है।''

अर्नाल्ड के इस कथन से उत्कृष्ट काव्य शैली में चार मानदण्डों की अनिवार्यता का ज्ञान होता है–

(1) काव्यात्मकता, (2) सरलता, (3) उच्चादर्श, (4) स्वच्छता

आलोचक एवं आलोचना : अर्नाल्ड ने आलोचक में तीन गुणों को अपेक्षित माना है

(1) आलोचक पढ़े, समझे और वस्तुओं का वास्तविक स्वरूप देखें।

(2) जो कुछ उसने सीखा है, उसे वह दूसरों को हस्तांतरित कर दे, जिससे उत्तम भावनाएँ जन्में।

(3) वह रचनात्मक शक्ति की क्रियाशीलता को समझता है।

अर्नाल्ड के मत में समीक्षा के तीन मौलिक मानदण्ड प्राप्त होते हैं –

(1) वैयक्तिक मानदण्ड

(2) ऐतिहासिक मापदण्ड एवं

(3) वास्तविक मापदण्ड

निष्कर्ष :

उपर्युक्त विवेचन से सुस्पष्ट होता है कि अर्नाल्ड के आलोचना सिद्धांत का मूल्यांकन – अर्नाल्ड का आलोचना सिद्धान्त समग्र एवं पूर्ण मूल्यांकन को अपेक्षित मानता है, जिसे चिन्तन की सूक्ष्मता द्वारा ही सम्भव बनाया जा सकता है। आलोच्य विषय के सन्दर्भ में अर्नाल्ड का मत है कि आलोच्य विषय में साहित्यिक दृष्टि से शैली काव्य सत्य, काव्य सौन्दर्य आदि में तात्विक आलोचना जितना महत्व रखती है, उससे कहीं अधिक महत्व इस बात का है कि वहां जीवन की किन समस्याओं का चित्रण हुआ है अथवा उस साहित्य से मिथ्यात्व, आडम्बरप्रियता एवं छद्म के विरोध में आवाज उठायी गयी तथा उसे उदात्त, सत्य, सौन्दर्य आदि से जोड़ने का प्रयत्न किया। उन्होंने आलोचना के क्रियान्वयन के सन्दर्भ में यह कहा कि आलोचना वही उपयुक्त है, जो व्यक्ति को निरपेक्ष सौन्दर्य की ओर आकृष्ट करे तथा उसे पूर्णता की ओर आगे बढ़ाए। अर्नाल्डके चिन्तन में स्थिरता एवं गम्भीरता के साथ–साथ मूल्यों एवं आस्थाओं की प्रतिष्ठापना दिखाई देती है और इसे कारण ही अर्नाल्ड को

पाश्चात्य आलोचना की आचार्य परम्परा में प्रभावशाली व्यक्तित्व का धनी होने का गौरव प्राप्त हो सका है।

NOTES

उत्तर देखें एक दृष्टि में :–

आलोचना का स्वरूप एवं प्रकार्य

काव्य एवं उसका यथार्थ

उत्तम काव्य की आवश्यकता

उत्कृष्ट काव्य व्यापार

कार्य – व्यापार का चयन

काव्य – कलानुभूति

काव्यशैली

(1) उक्तियों में कसावट

(2) शुद्ध भाषा का प्रयोग

(3) भावों की स्पष्टता

आलोचक एवं आलोचना

(1) वैयक्तिक, मापदण्ड

(2) ऐतिहासिक मापदण्ड

(3) वास्तविक मापदण्ड

अर्नाल्ड के आलोचना सिद्धान्त का मूल्यांकन

आई. ए. रिचर्ड्स

रिचर्ड्स के साहित्य सिद्धान्त :

आधुनिक समीक्षा क्षेत्र में आई. ए. रिचर्ड्स का जन्म इंग्लैण्ड में सन् 1893 में हुआ। उनका रचनाकाल सन् 1924 से 1936 के मध्य माना जाता है। वर्तमान यूरोपीय काव्यशास्त्र में रिचर्ड्स का योगदान परिणाम व गुणवत्ता दोनों की दृष्टियों से अत्यन्त महत्वपूर्ण है। रिचर्ड्स अर्थशास्त्र एवं मनोविज्ञान के अध्येता थे। उनका अनुभव क्षेत्र भी विकसित था। ये अनेक वर्षों तक हार्वर्ड विश्वविद्यालय में अंग्रेजी के प्रोफेसर रहे। वहीं से उन्होंने डी. लिट् की उपाधि प्राप्त की। उनके लगभग एक दर्जन ग्रंथों में से 'प्रिन्सिपल ऑफ लिटरेसी क्रिटिसिज्म' सबसे अधिक प्रसिद्ध है।

NOTES

(1) रिचर्ड्स का सैद्धान्तिक दृष्टिकोण :

उस काल के पाश्चात्य जगत में साहित्य समीक्षा के अनेक सिद्धान्त प्रचलित थे। क्रोचे तब तक नवीन वैज्ञानिक उपलब्धियों के आधारों पर अभिव्यंजनावाद को स्थापित कर चुके थे। सिग्मण्ड फ्रायड, युंग तथा एडलर ने मनोविश्लेषण का समर्थन किया। अर्नाल्ड ने यह घोषणा की कि धर्म और संस्कृति के इस संक्रान्ति काल में कविता ही मान का उद्धार कर सकती है।

इस प्रकार इस संक्रान्ति काल में वैज्ञानिक उन्नति एवं भौतिक समृद्धि के सन्दर्भ में कविता का अवमूल्यन होने लगा। तब रिचर्ड्स मनोविज्ञान के क्षेत्र से साहित्य के क्षेत्र में आए और मनोविज्ञान का आधार लेकर उन्होंने अपने काव्य सिद्धान्त का उल्लेख किया। इस प्रकार उन्होंने दो प्रमुख सिद्धान्त दिये–

(1) कला का मूल्यवादी या उपयोगितावादी सिद्धान्त और

(2) सम्प्रेषणीयता का सिद्धान्त।

इनके अतिरिक्त सफल काव्य के गुण, भेद, कलापक्ष का विवेचन, कला और नैतिकता काव्य और कला, समीक्षा सिद्धान्त, साहित्य और विज्ञान आदि पर उन्होंने चिन्तन किया।

(2) मूल्य का सिद्धान्त :

रिचर्ड्स से पूर्व प्रो. ब्रेडले ने काव्य के सौन्दर्यानुभूति का समर्थन किया और उसको जीवन से अलग माना। रिचर्ड्स ने उसका खण्डन करते हुए कला–काव्य का जीवन मूलक मूल्यों से घनिष्ठ सम्बन्ध स्वीकार किया। उनके अनुसार मूल्यांकन सम्बन्धी धारणाओं का सम्बन्ध मानसिक उद्देश्यों से है। इनके दो रूप हैं – (1) प्रवृत्ति मूलक : भूख, तृष्णा और वासना और (2) निवृत्ति मूलक : घृणा, निर्वेद, वितृष्णा आदि।

(3) साधारण मूल्यों का सिद्धान्त :

रिचर्ड्स ने कला को 'साधारण मूल्यों का सिद्धान्त' कहा। वे मूल्यवादी समीक्षक थे। उन्होंने 'कला कला के लिए' सिद्धान्त का विरोध किया। उन्होंने श्रेष्ठ कला की चर्चा करते हुए लिखा है– "यदि वह मानव सुख की अभिवृद्धि में निरत हो, पीढ़ियों के उद्धार या हमारी पारस्परिक सहानुभूति के विस्तार में संलग्न हो, अथवा हमारे अपने विषय में या हमारे या वस्तु जगत के परस्पर सम्बन्ध के विषय में ऐसे नूतन या पुरातन सत्य का आख्यान करे, जिससे उक्त भूमि पर हमारी स्थिति और सुदृढ़ हो, तो वह महान कला होगी।"

चिन्तनता की व्यापकता के कारण, आचार्य शुक्ल ने रिचर्ड्स के इस सिद्धान्त का पर्याप्त समर्थन किया है।

(4) प्रभाव मूल्य :

रिचर्ड्स के अनुसार वे प्रवृत्तियाँ, जो किसी अनुभव या मानसिक क्रिया द्वारा उत्पन्न की जाती है, मूल्य वान है। इस प्रकार किसी अनुभव का मूल्य उसके उत्तरकालीन प्रभाव द्वारा आँका जाता है। इस प्रकार की कविता श्रोता या पाठक के मन को जितना अधिक प्रभावित कर सकती है वह उतनी ही उत्कृष्ट कहलायेगी।

NOTES

(5) काव्य और नैतिकता :

रिचर्ड्स ने ब्रेडले के ''कविता, कविता के लिए' सिद्धान्त का खण्डन करते हुए कला व नीति का परस्पर सम्बन्ध स्वीकार किया है। इस सम्बन्ध में शुक्ल जी और रिचर्ड्स की अवधारणा में साम्य यह है कि साहित्य मन को विशेषीकृत एवं परिष्कृत करता है। रिचर्ड्स रूढ़ नैतिकता के पक्षधर नहीं थे, इसलिए उन्होंने काव्य को आचार संबंधित नहीं किया।

(6) प्रेषणीयता का सिद्धान्त :

किसी अन्य की अनुभूति को अनुभव करना ही प्रेषणीयता है। प्रेषणीयता बहुत कुछ संवेदनशीलता भी मानी जा सकती है। रिचर्ड्स के अनुसार– ''जब किसी वातावरण विशेष से एक व्यक्ति का मानस प्रभावित होता है तथा दूसरा उस व्यक्ति की क्रिया के प्रभाव से ऐसी अनुभूति प्राप्त करता है कि जो पहले व्यक्ति की अनुभूति के समान होती है तो उसे प्रेषणीयता कहते हैं। एक की अनुभमूति को अन्य सबकी अनुभूति बना देना ही कवि का कौशल है और उसे अन्य तक पहुंचा देना कलाकृति का गुण है। अतः कला की प्रेषणीयता अत्यंत आवश्यक है।''

रिचर्ड्स का कहना है कि समीक्षा का विशेष सम्बन्ध काव्य की सम्प्रेषणीयता से रहता है।

(7) सम्प्रेषण और भाषा :

प्रेषणीयता का माध्यम स्पष्ट रूप से भाषा ही है। भाषा भाव का अर्थ प्रस्तुत करती है। रिचर्ड्स अर्थ और भाव के सम्बन्ध में तीन रूप मानते हैं– (1) जहाँ अर्थ हो भाव का बोधक होता है। (2) जहाँ अर्थ ही भाव की अनुभूति का सूचक होता है। (3) जहाँ प्रसंग विशेष के कारण ही अर्थ विभिन्न भावों का सूचक बन जाता है।

(8) सम्प्रेषण कला का अर्थ :

भाव प्रकाशन की लालसा मानव की स्वाभाविक एवं आदिम वृत्ति है। सामाजिक प्राणी होने के कारण सम्प्रेषण मानव का आदिम क्रिया व्यापार रहा है, क्योंकि प्रत्येक अनुभूति सम्प्रेषण चाहती है। कला में सम्प्रेषणीयता का अधिक महत्व है, क्योंकि सम्प्रेषणीयता कला का स्वाभाविक धर्म माना जाता

है। अतः कलाकार में भाव प्रकाशन की क्षमता के साथ–साथ प्रेषणीयता का गुण होना भी आवश्यकता समझा जाता है।

NOTES

(9) सम्प्रेषण की आदर्श स्थिति :

सम्प्रेषण कवि और पाठक दोनों की अनुभूतियों के मध्य तादात्म्य, एकरूपता स्थापित होने पर ही होता है। यह एकरूपता जितनी अधिक होगी, सम्प्रेषण भी उतना ही आदर्श होगा, क्योंकि यह एकरूपता (तादात्म्य) नितान्त आवश्यक है। रिचर्ड्स के अनुसार सम्प्रेषण का आदर्श रूप यह एकरूपता है, दूसरी कोई स्थिति इसके समकक्ष नहीं हो सकती है।

(10) प्रेषणीयता का आधार :

रिचर्ड्स ने प्रेषणीयता के कुछ आधार माने हैं, तथा –

(1) रिचर्ड्स के अनुसार सम्प्रेषण कला का स्वाभाविक धर्म है, अतः कवि अपनी अनुभूतियों का सहज प्रस्तुतीकरण करके पाठक या श्रोता के मन में तदनुकूल भावदशा की सृष्टि करता है।

(2) श्रोता एवं पाठक में संवेदन, शान्ति या ग्रहणशीलता का गुण होना चाहिए।

(3) विषय रोचक व रमणीय होगा तो सम्प्रेषणीयता का गुण भी अधिक होगा।

(4) कवि की अनुभूति का एकरस होना भी आवश्यक है।

(5) अनुभूतियों में वैविध्य होना, उसका विस्तृत व मूल्यवान होना भी आवश्यक है।

(6) उनका उत्तेजक कारणों द्वारा उत्पन्न किये जाने योग्य होना भी आवश्यक है।

(11) प्रेषणीयता के बाधक तत्व :

रिचर्ड्स ने प्रेषणीयता के बाधक तत्वों का भी उल्लेख करते हुए कहा है कि

(1) मूल्यहीन अनुभूति का सम्प्रेषण यदि किसी मूल्यहीन सम्प्रेषण को प्राप्त होता है तो वह अभिव्यक्ति अपने आप में स्वतः दोषपूर्ण मानी जाती है।

(2) मूल्यवान अनुभूति का दोषपूर्ण सम्प्रेषण यदि दोषपूर्ण होता है तो यह स्थिति भी दोषपूर्ण है।

कविता के भेद : रिचर्ड्स ने काव्य के दो भेद बताये हैं –

(1) अपवर्ती कविता, (2) अन्तर्वेदी कविता

सफल काव्य गुण : काव्य के सफल प्रणयन में सहायक दो गुणों का उल्लेख रिचर्ड्स ने किया है –

(1) कलाकार की अनुभूति, तथा

(2) कल्पना आदि।

NOTES

(12) अर्थ मीमांसा सम्बन्धी विचार : रिचर्ड्स के अनुसार अर्थ के चार प्रकार होते हैं–

(1) वाच्यार्थ : इसे वस्तुस्थिति से परिचित कराने वाली शक्ति शब्द शक्ति कहा जाता है।

(2) अनुभूति : अनुभूति से तात्पर्य भावना से होता है।

(3) स्वर : इसे कथन भंगिमा के रूप में माना जा सकता है। जिसे हम 'काकुवक्रोक्ति' के माध्यम से समझ सकते हैं।

(13) रिचर्ड्स के भाषा सम्बन्धी विचार : रिचर्ड्स ने दो प्रकार के भाषा सम्बन्धी प्रयोगों की चर्चा की है।

(1) वैज्ञानिक प्रयोग :– जब किसी सन्दर्भ विशेष के लिए वक्तव्य दिया जाता है, वह चाहे सत्य हो या मिथ्या हो। इसे सूचनात्मक, तथ्यात्मक अथवा अभिधात्मक भाषा प्रयोग भी कह सकते हैं, क्योंकि विज्ञान की भाषा तथ्यात्मक होती है। वहां 'गधा' का अर्थ चार पैरों वाला पशु विशेष ही है।

(2) रागात्मक (अर्थ) तथा प्रयोग :– भाषा का प्रयोग मनोवेगों तथा दृष्टिकोण को प्रभावी बनाने के लिए किया जाता है। काव्य में रागात्मक या भावात्मक प्रयोग ही प्रभावी और महत्वपूर्ण होता है। इसमें पदार्थ का उल्लेख मात्र सृजनात्मक न होकर पाठक के मन में अभिप्रेत भावों को आहूत करने के लिए होता है।

(14) रिचर्ड्स के लय, छन्द सम्बन्धी विचार दिए हैं काव्य में लय और छन्द होना अनिवार्य है।

(15) सौन्दर्यानुभूति और कला :

भारतीय चिन्तन में 'सत्यं शिवं सुन्दरम्' की कल्पना भी की गयी है। जर्मन विचारक काण्ट ने सत्य को औपचारिक बुद्धि, सुंदर को भावात्मक मनोवृत्ति एवं शिवं को क्रियात्मक मनोवृत्ति माना है। रिचर्ड्स ने सत्य सम्बन्ध विचार से और शिव का सम्बन्ध इच्छा से माना, परन्तु सुन्दर का सम्बन्ध भाव से नहीं माना है।

रिचर्ड्स मनोवैज्ञानिक थे, इसलिए उन्होंने सौन्दर्यानुभूति को साधारण ऐन्द्रिय अनुभव माना। उनके अनुसार श्रोता या पाठक की काव्य पाठजनित यह अनुभूति नवीन वस्त्रों के धारण करने के समान ही होती है।

NOTES

(16) रस–सिद्धान्त :

रिचर्ड्स काव्य का मूल्य रागात्मक आधार पर स्वीकार करते हैं, और काव्यानुभूति का मूल्य पाठक के मन पर पड़े प्रभावों को मानते हैं। इस प्रकार रसवादियों की रस–सत्ता, हृदय में स्थिति रागात्मकता रस सिद्धान्त के पर्याप्त निकट है।

समता :

(1) रस सिद्धान्त में 'भाव' प्रधान होता है। रिचर्ड्स ने भी काव्यानुभूति में संवेग, भावना और अभिवृत्ति को प्रधान स्वीकार किया है। रस सिद्धान्त में 'विभाव' उद्दीपन' की चर्चा की गयी।

(2) रस सिद्धान्त में 'स्थायी भाव' की सत्ता वासना रूप में स्वीकार की गई है। रिचर्ड्स आदिम आवेगों की सत्ता स्वीकार करते हैं।

(3) रस सिद्धान्त में भिन्न अभिन्न रसों की चर्चा है तो रिचर्ड्स ने विरोधी आवेगों को स्वीकार किया है।

(4) दोनों में अनेकता में एकता, अव्यवस्था में व्यवस्था और विरोध में अविरोध का उल्लेख किया गया है।

(5) उनकी सम्प्रेषण प्रक्रिया साधारणीकरण के समीप है।

विषमता : (1) रस–सिद्धान्त अलौकिकता पर आधारित है। रिचर्ड्स का सिद्धान्त मनोविज्ञान का आधार लेता है। वे उसे सामान्य मानते हैं, जबकि रस सिद्धान्त काव्यानुभूति को आनंदमयी अनुभूति मानता है।

(2) रिचर्ड्स मनोवेगों के संघटन को साक्ष्य मानते हैं, रसवादी उसे साधन मानते हैं और अस्वादमूलक आनंद को साक्ष्य मानते हैं।

निष्कर्ष :

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट होता है कि बीसवीं शती के समीक्षकों में रिचर्ड्स का स्थान अतीव महत्वपूर्ण है। यद्यपि इनकी प्रतिपादन शैली, तात्विक अभिव्यंजना और चिन्तन परम्परा अतीव क्लिष्ट और दुरूह है, फिर भी आधुनिक पाश्चात्य मनीषियों में इनका योगदान विशिष्ट माना जाता है। ठोस, वैज्ञानिक मनौवैज्ञानिक, सामाजिक तथा नैतिक दृष्टि का आधार ग्रहण करने के कारण उसके काव्य सिद्धान्त आधुनिक पाश्चात्य कला–समीक्षकों से लेकर आचार्य रामचन्द्र शुक्ल तक सभी का प्रभावित करने में सफल रहे हैं। आलोचना के क्षेत्र में इनकी मान्यताएँ सर्वग्राह्य हैं तथा मनोवेगों से सम्बन्धित इनकी व्याख्या मौलिक एवं चिन्तन प्रधान है।

टी.एस. इलियट

टी.ए. इलियट बीसवीं शताब्दी के प्रभावशाली समीक्षक हैं। इलियट क्लासिकवादी हैं। इलियट के अनुसार 'क्लासिक' का अर्थ है परिपक्वता या प्रौढ़ता, वे

रचनाकार में तीन गुण आवश्यक मानते हैं– Maturity of mind, Maturity of Manners & Maturity of language। इलियट के अनुसार क्लासिक साहित्य की रचना तभी हो सकती है जब सभ्यता, भाषा और साहित्य प्रौढ़ हो तथा स्वयं रचनाकार का मस्तिष्क भी प्रौढ़ हो।

NOTES

इलियट परम्परा को महत्व देते हैं। कोई भी रचनाकार परम्परा हो संबद्ध होने पर ही, महत्वपूर्ण बन पाता है। इलियट परंपरा को रूढ़ि पालन के रूप में नहीं मानते उनके अनुसार अतीत को वर्तमान में देखना ही एक प्रकार की मौलिकता है। कला तथा काव्य की महत्वपूर्ण धाराओं से परिचित होना परंपरावादी होना।

उन्नीसवीं शताब्दी तथा बीसवीं शताब्दी के प्रारम्भ में स्वच्छन्दतावाद का प्रभाव रहा। टी.एस. इलियट स्वच्छन्दतावाद के प्रभाव को सीमित करते हुए क्लासिक मत का प्रतिपादन किया। कला को कलाकार का आत्मप्रकाशन मानने वाले सभी सिद्धान्तों की उन्होंने आलोचना की तथा परंपरा का सिद्धान्त सामने रखा। उनके अनुसार परम्परा का काव्य रचना में महत्वपूर्ण स्थान है और कवि की प्रतिभा तो केवल माध्यम होती है जो परम्परा को काव्य में प्रतिफलित होने में सहायक बनती है। इलियट मानते हैं कि ऐतिहासिक बोध केवल अतीत को देखना नहीं अपितु उसे उसके वर्तमान रूप में देखना है।

इलियट ने अपनी पुस्तक 'After Strange Gods' में लिखा– ''परम्परा से मेरा तात्पर्य उन सभी स्वाभाविक कार्यों, रीति–रिवाजों से है, जो एक स्थान में रहने वाले एक समुदाय के व्यक्तियों रक्त सम्बन्ध को व्यक्त करते हैं।'' दूसरे शब्दों में कहें तो इलियट परम्परा का सम्बन्ध संस्कृति से मानते हैं जो अपने विकास क्रम में जीवन, कला, दर्शन और साहित्य को समेटती चलती है। कवि को साहित्य में परम्परा का ध्यान रखना आवश्यक है– परम्परा का विस्मरण अपने उद्देश्य का विस्मरण है। इलियट मानते हैं कि अनेक युगों और कलाकृतियों के संकेतिक और मिश्रित प्रभाव से परम्परा का निर्माण होता है, कवि को चाहिए कि वह परम्परा को आत्मसात करे तथा आवश्यकता पड़ने पर उसे परिवर्तित और परिवर्धित करता चले। अतीत को वर्तमान में देखना ही मौलिकता है। इस प्रकार इलियट का परम्परावाद न तो रूढ़ि है और न मौलिकता का विरोध।

एजरा पाउण्ड की मान्यता थी कि कवि भी वैज्ञानिक के समान निर्वैक्तिक होता है। इलियट भी वैयक्तिकता विरोधी परम्परा को मानते हैं। इलियट साहित्य के जीवन्त विकास के लिए परम्परा का योग स्वीकार करते हैं जिसके कारण साहित्य में आत्मनिष्ठ (Subjective) तत्व गौण तथा वस्तुनिष्ठ (Objective) तत्व प्रमुख हो जाता है। इलियट की मान्यता है कि 'कवि व्यक्तित्व की अभिव्यक्ति नहीं करता, वह विशिष्ट माध्यम मात्र है। व्यक्तिगत भावों की अभिव्यक्ति कला नहीं है, वरन् उससे पलावन कला है। कलाकार की प्रगति आत्मत्याग एवं व्यक्तित्व के निरन्तर समर्पण में हैं।' कालान्तर में निर्वयक्तिकता के सम्बन्ध में इलियट के विचारों में परिवर्तन हुआ। उन्होंने निर्वैयक्तिकता के दो रूप स्वीकार करते हुए कहा– ''एक वह जो कुशल शिल्पी मात्र के लिए प्राकृतिक होती है। दूसरी वह जो प्रौढ़ कलाकार के द्वारा अधिकाधिक उपलब्ध की जाती है। दूसरे प्रकार की निर्वैयक्तिकता उस प्रौढ़ कवि की

NOTES

होती है जो अपने उत्कृष्ट, व्यक्तिगत अनुभवों के माध्यम से सत्य को व्यक्त करने में समर्थ होता है। भारतीय काव्यशास्त्रियों, आचार्यों की तरह इलियट भी मानते हैं कि कवि अपनी निजीभावों की कविता में अभिव्यक्ति इस प्रकार करता है कि वे भाव उसके निजी नहीं रहते वरन सर्व–सामान्य के बन जाते हैं इस प्रकार इलियट की निर्वैयक्तिता कवि के निजी भावों के वैशिष्ठ्य का सामान्यीकरण है। कवि अपनी तीव्र संवेदना और ग्रहण क्षमता से स्वानुभू अथवा आयत भावों को काव्य में व्यक्त करता है तब ये अनुभूतियां कवि की निजी नहीं रह जाती वे सार्वजनिक बन जाती है, भारतीय काव्यशास्त्र के 'साधारणीकरण' के सिद्धान्त की भी ऐसी ही मान्यता है।

'कविता के तीन स्वर' नामक भाषण में इलियट ने काव्य के तीन स्वर माने हैं– प्रथम स्वर वह है जिसमें कवि स्वयं से बात करता है। द्वितीय स्वर वह है जिसमें वह अन्यों (श्रोताओं) से बात करता है, और तीसरे स्वर में वह पात्रों के माध्यम से बोलता है। प्रथम प्रकार के स्वर में कवि अभिव्यक्ति के माध्यम से एक प्रकार के भार से मुक्ति चाहता है, इस अवस्था में काव्य की अन्तर्वस्तु स्वनिर्माण में प्रवृत्त रहती है। वस्तु और द्रव साथ–साथ विकसित होते हैं। दूसरे स्वर की कविता का सामाजिक उद्देश्य होता है, तीसरे स्वर के अन्तर्गत नाटक को रखा जा सकता है। इलियट के अनुसार सामान्यतः कविता में ये तत्व मौजूद रहते हैं।

इलियट के अनुसार कला में भाव प्रदर्शन का एक ही मार्ग है और वह है कि भाव प्रदर्शन के लिए वस्तुनिष्ठ समीकरण (Objective Corelative) प्रस्तुत किया जाए। दूसरे शब्दों में कहा जा सकता है कि ऐसी वस्तु संघटना, स्थिति, घटना श्रृंखला प्रस्तुत की जाए जो उस नाटकीय भाव का सूत्र हो ताकि ये बाह्य वस्तुएं, जिनका पर्यवसान मूर्त मानस अनुभव में हो तथा प्रस्तुतीकरण के तुरन्त बाद भावोद्रेक हो जाए। नाटककार अपने कथ्य को वस्तुओं की किसी संघटना, किसी स्थिति, किसी घटना श्रृंखला के द्वारा ही कह पाता है। यही इलियट का वस्तुनिष्ठ समीकरण है इसे विभाव–विधान भी कहा जा सकता है, यह विभाव–विधान ऐसा हो जो सामाजिक में नाटककार के मानस–भाव जागृत कर पाए।

इलियट मानते हैं कि कवि कर्म का माध्यम भाषा है इसी माध्यम से वह समाज को भावानुभूतियाँ प्रदान करता है। परम्परागत भाषा में जो बोधगम्य नहीं होता उसे बोधगम्य बनाने के लिए कवि को भाषा की शक्तियों का विकास करना होता है, प्रतीकों और रूपकों को गढ़ना होता है। इलियट मानते हैं कि कविता अनूदित नहीं हो सकती– 'Poetry is constant reminder of all the things that can be sent only in one language and are understandable.

इलियट के अनुसार कवि की भाषा को युग की भाषा के इतना निकट होना चाहिए कि श्रोता या पाठक उसे पढ़कर या सुनकर कह उठे कि 'यदि मैं कविता में बात करना जानता तो इसी प्रकार करता'' कविता का सम्बन्ध बोलचाल की भाषा से होना चाहिए साथ ही उसे द्रुत परिवर्तनों से भी बचाना चाहिए।

इलियट के अनुसार समीक्षा का मूलकार्य है, स्वहित का बोध कराना और उसका आनन्द बढ़ाना। इलियट आनन्द लेने और बोध प्राप्त करने को अलग–अलग क्रियाएं नहीं मानते –

To understand a poem comes to the same thing as to enjoy it for the right reason. काव्य के बोध पक्ष से सम्बन्धित पहली प्रवृत्ति कवि की जीवनी, उसके युग की विभिन्न प्रवृत्तियों, उसकी विभिन्न प्रेरणाओं की खोज करती है। इलियट इस समीक्षा पद्धति की उपयोगिता तो स्वीकार करते हैं, लेकिन कहते हैं कि जहाँ इनकी आवश्यकता न हो वहाँ अनावश्यक तथ्य एकत्र न किए जाएं।

NOTES

बोध पक्ष की दूसरी प्रवृत्ति में काव्य कृति को (अन्य संदर्भों के बिना) समझने का प्रयास किया जाता है। ये देनों समीक्षा पद्धतियाँ वस्तुनिष्ठ समीक्षा के दो प्रकार हैं, इलियट ने इन दोनों प्रकारों (वस्तुनिष्ठ और आत्मनिष्ठ) का काव्य अध्ययनों के आस्वादन के लिए अनिवार्य माना है।

1. अभिजात्यवाद (शास्त्रीयवाद)

1. अभिजात्यवाद के अर्थ, स्वरूप और विशेषताओं की विवेचना कीजिये

अथवा

अभिव्यंजनावाद के इतिहास की विवेचना करते हुए उसके स्वरूप की संक्षेप में विवेचना कीजिए।

1. अभिजात्यवाद का अर्थ :

प्राचीनकाल में रोम की श्रेष्ठ कला कृतियों के अध्ययन की परम्परा थी, जिसे Classical 'क्लासिक्स कहते हैं। इस शब्द का अर्थ कोश में इस प्रकार किया गया है– ''साहित्य अथवा कलाक्षेत्र में सर्वोत्कृष्ट आदर्श का अनुसरण करने वाली कृति, शुद्ध उच्च अभिरूचि सुसंस्कृत आदि।''

'क्लासिसिज्म' को हिन्दी में शास्त्रवाद, शास्त्रीयतावाद, अभिजात्यवाद आदि कई नामों से अभिहित किया गया है।

2. अभिजात्यवाद का इतिहास :

सत्यदेव मिश्र के अनुसार, दूसरी शती में लातिन के लेखक ओलस जेलियस ने अपनी पुरूतक 'नौकटिस एटिस' में दो प्रकार के लेखों का उल्लेख किया है।

(1) स्क्रिप्टर क्लासीकस– सुसंस्कृत एवं अभिजातवादी अथवा 'इलीट सोसाइटी' के लिए लिखने वाला अभिजातवादी लेखक।

(2) स्क्रिप्टर प्रोलेटिरिडस – जनसाधारण एवं असंस्कृत लोगों के लिए लिखने वाला जानकारी लेखक। इन शब्दों की धारणा बदल गयी। रिनेसा काल में अभिजातवादी साहित्य को विश्वविद्यालय स्तर पर पढ़ा जाने वाला तथा

विद्वानों के पठन–पाठन का प्रमुख साहित्य माना जाने लगा और यूनान की प्रसिद्ध साहित्यिक कृतियां ही अभिजात्यवादी समझी जाती थीं।

NOTES

यही धारणा 18वीं शताब्दी में नवशास्त्रवादी से प्रस्थापित हुई और 'शास्त्रवाद दो हिस्से में बंट गया प्राचीन यूनान, रोक के से साहित्यकारों को शास्त्रवादी करार दिया गया और यूरोपीय चिन्तक (डॉ. जॉनसन पॉप आदि) नवशास्त्रवाद के पक्षधर कहलाये।

3. अभिजात्यवाद का स्वरूप :

अभिजात्यवाद शास्त्रवाद के स्वरूप पर पर्याप्त चर्चा हुई है– गेटे, शिलर, मैथ्यू, अर्नाल्ड, ग्रियर्सन एवर क्रॉम्बी, इलियट आदि ने इस पर विचार प्रकट किये हैं। इन सबके आधार पर इसकी प्रमुख कथ्यगत एवं शैलीगत विशिष्टताओं का उल्लेख सत्यदेव मिश्र ने अपने ग्रंथ 'पाश्चात्य समीक्षा : और वाद' में किया है जो निम्न प्रकार है –

शैलीगत विशेषतायें – (1) भव्य विचार एवं लोक कल्याण की भावना तथा मानव जीवन की चिन्तन समस्याओं का प्रस्तुतीकरण अभिजातवादी साहित्य का प्रमुख कथ्य होता है।

(2) उदात्त भाषा शैली का प्रयोग : भाषा परिष्कृत व्याकरणोंचित तथा भव्य होनी चाहिए। शैलीगत परिमार्जिन को काव्य से भी प्राथमिकता मिलनी चाहिए।

(3) सन्तुलन विषय की प्रधानता (विषय तथा रूपगत सन्तुलन) : कथ्य तथा कथनगत किसी प्रकार की भी अराजकता पर नियन्त्रण रखकर पूर्ण सन्तुलन का निर्वाह होना चाहिए।

(4) भावनाओं की अराजकता को व्यवस्थित करके शैली में कठोर संयम का पालन किया जाना चाहिए।

(5) प्राचीन यूनानी काव्य सिद्धान्तों, शास्त्रीय मान्यताओं का परिपालन ही शास्त्रवाद की मूल चेतना है। इसे अभिजात्यवाद की संज्ञा दी गई और आगे चलकर समर्थकों ने नवशास्त्रवाद की घोषणा भी की

(5) इलियट के विचार :

इलियट ने अपने को what is the cllasic क्लासिकवादी कहा है। उन्होंने अपने 'ह्वाट इज द क्लासिक' नाम लेख के प्रकाशन से पूर्व एक वक्तव्य प्रसारित किया था कि 'वह राजनीति में राजभक्त, धर्म में कैथोलिक और साहित्य में शास्त्रीयवादी है।'' वस्तुतः क्लासिक साहित्य की सृष्टि तभी होती है, जब सभ्यता, भाषा और साहित्य प्रौढ़ हो ,स्वयं कृतिकार का मस्तिष्क भी प्रौढ़ हो। इलियट ने इन तीनों गुणों को क्रमशः (1) मस्तिष्क प्रौढ़ता, (2) शील प्रौढ़ तथा (3) भाषा की प्रौढ़ता कहा है। यहाँ इलियट के सिद्धान्त को समझने के लिए इन तीनों का स्पष्टीकरण दिया जा रहा है।

NOTES

(6) मस्तिष्क की प्रौढ़ता :

इसके लिए इलियट इतिहास और ऐतिहासिक चेतना आवश्यक मानते हैं इसके लिए उनके अनुसार कवि को अपने देश और जाति के अध्ययन के अतिरिक्त दूसरी सभ्य जातियों का इतिहास पढ़ना चाहिए, इस सभ्यता का ज्ञान प्राप्त करना चाहिये जिसने हमारी सभ्यता को प्रभावित किया है। सारांश यह है कि कवि को अतीत की पूरी जानकारी होनी चाहिए। इस तरह इलियट ने मस्तिष्क की प्रौढ़ता को परिपक्व सभ्यता भी कहा है और मस्तिष्क की चेतना का कार्य इतिहास को मौलिकता का आयाम प्रदान करना है।

(7) शील की प्रौढ़ता :

शील की प्रौढ़ता से इलियट का आशय था आदर्श चरित्र का निर्माण। भाषा की पूर्ण प्रौढ़ता के लिए यह आवश्यक है कि पूर्व युग में महान कवि हो चुके हों किन्तु उनकी कृतियों में भाषा पराकाष्ठा तक विकसित न हुई हो। भाषा का पराकाष्ठागत विकास तो क्लासिक कवि द्वारा ही उस समय होता है, जब मनुष्य में अतीत का बोध, वर्तमान में विश्वास और भविष्य की कोई सजग शंका न हो। इससे सार्वभौम भावना का विकास होता है।

(8) भाषा की प्रौढ़ता : इलियट का अभिप्राय ऐसी प्रौढ़ भाषा से होता है, जिसमें शक्ति का पूर्व निखार झलकता हो तो वह ग्राह्य हो सकता है, पर इलियट का भाषा की प्रौढ़ता तो यही आशय है कि मस्तिष्क और शील को प्रौढ़ता से चिन्तन मनन की प्रौढ़ता आ जाती है, तथा साहित्यिक प्रौढ़ता भी प्रतिफलित होती है।

(9) अभिजात्यवाद का महत्व : इलियट के अनुसार मस्तिष्क की प्रौढ़ता, शील प्रौढ़ता, भाषा की प्रौढ़ता, शील की पूर्णता और विश्वयनीयता क्लासिक के अनिवार्य गुण हैं, इसके लिए किसी भी प्रकार संकीर्णता और सीमित धार्मिक चेतना अग्राह्य है। ब्सेंपबंस के सम्बन्ध में दिये गये इलियट के अधिकांश मत दो मान्य हैं, परन्तु दो एक वक्तव्य ज्यों के त्यों स्वीकार नहीं किये जा सकते। उदाहरण के लिए एक स्थल पर वह लिखते हैं– ''यदि क्लासिक वास्तविक आदर्श है, तो उसे ईसाई धर्म की उच्चाशयता की अभिव्यक्ति करनी होगी।'' परन्तु यदि उनका अभिप्राय उच्चाशय, उदार, आस्तिक, धार्मिक दृष्टिकोण से है, जो चरित्र औदाय और अखिल मानवता के लिए कल्याणकारक है, तो उसे स्वीकार करने में कोई अड़चन नहीं है।

उक्त विवेचन में कवि की प्रौढ़ता या परिपक्वता तथा उच्चाशयता का उल्लेख किया गया है। इलियट ने इन पर भी प्रकाश डाला है, जिन्हें इस तरह समझा जा सकता है–

(10) कवि और कलाकार की प्रौढ़ता :

वस्तुतः यह उपर्युक्त तीनों ही रूपों में सम्मिन के आधार पर सिद्ध हो सकता है। इलियट के अनुसार अतीत के प्रति आलोचनात्मक भाव, वर्तमान के प्रति

NOTES

अटूट विश्वास और भविष्य के प्रति सन्देहयुक्त दृष्टि के साथ मस्तिष्क की परिपक्वता और भाषा की प्रौढ़ता। उसने उसे भाषा की अन्तरात्मा को समझने वाला भी स्वीकार किया, जिससे यह स्वतः स्पष्ट है कि उसमें भाषागत सभी गुण विद्यमान होना चाहिए।

(11) **उच्चाशयता** : क्लासिक के सन्दर्भ में इलियट ने कैथोलिसिटी को प्रयोग किया है। इसका अर्थ यदि ईसाई धर्म की उच्चाशयता लिया जाये तो यह मान्य नहीं होगा, क्योंकि किसी प्रकार की धार्मिक संकीर्णता कृति को 'क्लासिक' नहीं बनने देगी। अतएव इस कैथोतिसिटी का अर्थ उच्चाशयता अथवा उदार दृष्टि लिया जाना चाहिए।

(12) **निर्वैयक्तिकता का सिद्धान्त** : ''निर्वैक्तिक के दो रूप होते हैं, एक वह जो 'कुशल शिल्प मात्र' के लिए प्रकृत होता है दूसरा वह है जो प्रौढ़ कलाकार के द्वारा अधिकाधिक उपलब्ध किया जाता है। दूसरे प्रकार की निर्वैयक्तिकता उस प्रौढ़ कवि की होती है जो अपने उत्कट और व्यक्त अनुभवों के माध्यम से सामान्य सत्य को व्यक्त करने में समर्थ होती है।''

निर्वैयक्तिता का अर्थ – निवैयक्तिकता के दो रूप – (1) प्राकृतिक, (2) विशिष्ट

(13) निवैयक्तिकता की समीक्षा।

(14) कविता के स्वर

(15) वस्तुनिष्ठ समीकरण का सिद्धांत

(16) **काव्य भाषा सम्बन्णी विचार** :

काव्य भाव प्रधान होता है अर्थात उसकी अभिव्यक्ति भावों और विचारों की भाषा के माध्यम से होती है। प्रत्येक जाति और समाज की अनुभूति शक्ति की अपनी अलग विशेषता होती है और वह ऊँची जाति या समाज की भाषा में सम्पूर्ण रूप में व्यक्त की जा सकती है। इस सम्बन्ध में इलियट का कथन है कि कविता अनूदित नहीं हो सकती है। ह्यूम के अनुसार कविता परिवर्तन हो सकती है।

कवि की भाषा को युग की भाषा के इतने निकट सम्बंध में होना चाहिए कि श्रोता या पाठक उसे सुनकर या पढ़कर कह उठे कि ''यदि मैं कविता में बात करना जानता तो इसी प्रकार बात करता।''

आज की हिन्दी कविता की भाषा निश्चय ही इस शर्त को भी पूरा नहीं कर पा रही है। वह मानता है कि आधुनिक युग में कविता गाने के लिए नहीं, बोलने के लिए लिखी जाती है, अतः उस सम्बन्ध में बोलचाल की भाषा प्रयोग यदि युग की बोलचाल वाली भाषा के समान ही बनाये जायेंगे, तो कविता अपने महत्वपूर्ण उद्देश्य से विरत रह जाएगी। इस प्रकार इलियट जनभाषा का पक्षधर है और भाषा में अभिव्यक्ति की क्षमता लाने के कवि के निरन्तर अभ्यास को उचित मानता है।''

निष्कर्ष : इस प्रकार संक्षेप में कहा जा सकता है कि इलियट का व्यक्तित्व पाश्चात्य काव्यशास्त्र के लिए युगान्तकारी रहा है। काव्य सिद्धान्तों के प्रतिपादन में, जनभाषा अथवा युग भाषा के प्रयोग की आवश्यकता पर अधिक बल देने में और वस्तुनिष्ठ समीकरण के सिद्धान्त का प्रतिपादन करने में इलियट में पर्याप्त मौलिकता और समन्वय रहा है। इन्होंने अपने पूर्व मतों के सुधार का स्वस्थ नवीन मतों की स्थापना की है। हिन्दी की 'नयी कविता' पर इनका प्रभाव देखा जा सकता है। वस्तुतः नवीन भाव–बोध से परिपूर्ण साहित्य पर इलियट का प्रभाव सर्वाधिक सुस्पष्ट दिखाई देता है।

2. स्वच्छंदतावाद

स्वच्छन्दतावाद :

हिन्दी काव्यशास्त्र में स्वच्छन्दतावाद, शब्द अंग्रेजी के रोमान्टिसिज्म, शब्द के हिन्दी पर्याय के रूप में प्रयुक्त होता है। सबसे पहले आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने अपने प्रसिद्ध 'हिन्दी साहित्य का इतिहास' में इस शब्द का प्रयोग किया था, वैसे शुक्ल जी ने पं. श्रीधर पाठक को हिन्दी कविता में स्वच्छन्दतावाद का प्रवर्तक माना है।

रोमान्टिसिज्म शब्द व्युत्पत्ति की दृष्टि से 'रोमान्य' अथवा 'रौमान्स' से बना है, जिनका अर्थ होता है– ऐसे अपकर्षी आख्यान जो कपोलकल्पना प्रधान है। अथवा वह साहित्य जो मध्ययुगीन स्वच्छन्द प्रवृत्ति का परिचायक हो। वास्तविकता यह है कि यूरोप के मध्यर्युगीन साहित्य में रोमान्स का प्राधान्य रहा। इसलिये मध्ययुगीन साहित्य रोमान्स का पर्यायवाची बन गया है। रोमांस साहित्य प्रेम, शौर्य, छल–कपट एवं उद्दाम वासनाओं से परिपूर्ण था।

नव शास्त्रवादियों ने जब नियमों के जाल में कविता एवं कृतियों को जकड़ना चाहा तब काव्य रचना के भावों की प्रस्तुति में न्यूनता होने लगी। कृतियों ने नियमों के जाल को तोड़ने एवं छोड़ने का निश्चय किया विश्व रंगमंच पर दो ऐतिहासिक घटनाएँ हुई। (1) फ्रांस की राज्य क्रांति और (2) औद्योगिक एवं वैज्ञानिक क्रांति, रूसों ने मानव स्वतन्त्रता पर बल देते हुए कहा है–

"Man is born free but it found everywhere in Chains".

यूरोप की राजनीतिक संरचना में भारी परिवर्तन हुआ, प्रकृति की और लौटो (Back to Nature) के नारे ने साहित्य के क्षेत्र में स्वच्छंदतावाद को को जन्म दिया।

स्वच्छन्दतावाद का उद्भव और विकास :–

स्वच्छन्दतावाद के उद्भव और विकास में सामाजिक, राजनीतिक, दार्शनिक, साहित्यिक अनेक प्रकार के कारण रहे हैं।

(1) सामाजिक कारण :

सामाजिक दृष्टि से स्वच्छन्दतावाद का उदय सामन्ती समाज व्यवस्था के अन्त तथा औद्योगीकरण के कारण उत्पन्न पूंजीवादी अर्थव्यवस्था को माना जाता

है। कवि को किसी, देवता या इतिहास पुरुष से प्रेरणा नहीं मिलती थी बल्कि उसे अंतःप्रेरणा से काव्य सृजन करना पड़ता था।

NOTES

(2) राजनीतिक कारण :

राजनीति दृष्टि से विचार किया जाये तो फ्रांस की राज्यक्रांति ने सम्पूर्ण जीवन में आमूल परिवर्तन उपस्थित किया जिसके कारण स्वच्छंदतावाद को महत्वपूर्ण दिशा प्राप्त हुई है।

(3) दार्शनिक कारण :

यदि दार्शनिक दृष्टि से विचार करे तो पाते हैं कि स्वच्छन्दतावाद, साहित्य की प्रकृति पर 'रोक्ट्वरी' 'वर्क' 'मोरिट्ज' आदि दार्शनिकों का प्रभाव पड़ा है।

(4) साहित्यिककरण :

लॉनजाइनस, युंग, पर्सी, रूसो, कोपर, थामस गे आदि फ्रांसीसी साहित्यकारो ने स्वछन्दतावाद को प्रभावित एवं पुष्ट किया।

अतीत प्रेम और भविष्योन्मुखी दृष्टि :

इन कवियों के लिए कल्पना जगत अधिक सुन्दर और सत्य है। सुमित्रानंदन पन्त ने प्रकृति का वर्णन बहुत सुंदर रूपों में किया है महादेवी वर्मा को तो अपने प्राकृतिक भाव साम्य के कारण आधुनिक युग की मीरा कहा जाता है।

प्रकृति के प्रति अनुराग :

स्वच्छन्दतावादी कवियों ने प्रकृति के रम्य रूपों का उद्घाटन बड़े मनोयोग के साथ किया है।

राष्ट्र प्रेम एवं मानवतावादी दृष्टिकोण :

स्वच्छन्दतावादी कवियों का राष्ट्र–प्रेम सच्चे अर्थों में राष्ट्र की आत्मा का प्रेम है। इनका राष्ट्र प्रेम, मानवतावादी आधार भूमि पर प्रतिष्ठित है। इनका प्रेम देश की मिट्टी, देश की प्रकृति से, देश के पशु पक्षियों से, देश के निवासियों से सच्चा प्रेम है। निराला और प्रसाद के काव्यों में राष्ट्र–प्रेम की अत्यन्त ही सशक्त अभिव्यक्ति हुई है।

अभिव्यंजनावादी पद्धति एवं विद्रोही दृष्टिकोण :

विषय वस्तु और शिल्प (भाषा–शैली) दोनों ही क्षेत्रों में इन कवियों ने परम्पराओं को अस्वीकार किया है। विषय वस्तु के क्षेत्र में ये अभिजात्यवादी विषयों के स्थान पर सामान्य विषयों को ही वरीयता देते है। इनके लिए कथावस्तु का उदात्र होना अनिवार्य नहीं है।

भाषा शैली के संदर्भ में भी इन कवियों ने प्राचीन शास्त्रवादी समस्त परम्पराओं को नकारा है। अपने काव्य में प्रतीक विधान, लाक्षणिक प्रयोग, रूपक, विम्ब नाद–

सौन्दर्य, नवीन छन्दों का प्रयोग, नये उपमानों का प्रयोग आदि के द्वारा ये कवि अपने कल्पना लोक को रंगते हुए देखे जा सकते हैं।

NOTES

7. सौन्दर्यमयी दृष्टि एवं एन्द्रियपरकता :

सौन्दर्य का अर्थ रमणीयता है। जिस वस्तु या व्यक्ति को देखकर हम आत्म–विस्मृत हो जाए, हमें अपनी सुधि–बुधि न रह जाये। वह बहुत सुन्दर कही जाती है। जिस वस्तु के कारण आत्म विस्मृति जितनी ही अधिक देर तक हो, वह वस्तु उतनी ही सुन्दर कही जायेगी इसी प्रकार सुन्दरता का अर्थ आत्म विस्मृति कराने की, अपने साथ तादात्म्य कराने की दृष्टा को तल्लीन कराने की विशेषता ठहरता है।

छायावाद का सौन्दर्य हमें ईश्वर के नजदीक ले जाता है। यह हमारी स्वच्छन्दतावाद को ईश्वर में विलीन करके द्वैत के भाव को समाप्त करने में सक्षम है, महादेवी वर्मा की ये पंक्तियाँ देखिये।

''जिसको अनुराग सा दान दिया

उससे कण माँग लजाता नहीं

अपना पन भूल समाधि लगा।

यह पी का विहाग भुलाता नहीं।''

साहित्य जगत में स्वच्छन्तदवादी आंदोलन की पुष्टि जर्मन के दार्शनिकों एवं साहित्यकारों से हुई है। इसमें मानव स्वतन्त्रता पर बल देने वाले रूसों का नाम सर्वाधिक महत्वपूर्ण है।

एक विश्वव्यापी आन्दोलन :

स्वच्छन्दतावाद एक विश्वव्यापी आंदोलन रहा है। अब तक इसके दो रूप हैं

(क) शाश्वत तत्व के रूप में।

(ख) ऐतिहासिक आन्दोलन के रूप में।

उक्त दोनों वर्गों के विद्वानों की मान्यता नहीं है कि संसार के प्रत्येक साहित्य में स्वच्छन्दतावाद तत्व आदिकाल से अब तक सदैव विद्यमान रह रहे हैं। ये तत्व किसी साहित्य विशेष में प्रबल हो जाते हैं। कविता में ये तत्व सर्वाधिक मात्रा में उपलब्ध होते हैं एवं अन्य विधाओं में इसकी मात्रा कम हो जाती है। ऐतिहासिक आंदोलन में स्वच्छदतावाद को दिशा एवं आधार देने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई है, जिसके कारण यह विश्वव्यापी रूप से हमारे सामने है।

हिन्दी में स्वच्छन्दतावादी आंदोलन :

अठारहवीं शताब्दी के अन्त में स्वच्छन्दतावादी विचारधारा इंग्लैंण्ड से जर्मनी की कविता में आई। इंग्लैण्ड में स्वच्छछन्दतावादी आन्दोलन को स्कॉटलैंण्ड के निवासी कवियों ने प्रशस्त किया। उनके नाम है– रॉबर्ट बर्न्स एवं विलियम ब्लैंक

NOTES

इनके बाद विलियम बड्सवर्थ, कोलरिज, कीट्स, सरवाल्टर स्कॉट आदि के द्वारा इस आंदोलन को पल्लवित एवं विकसित किया गया। भारत में स्वच्छन्दतावादी प्रभाव अंग्रेजी के माध्यम से सर्वप्रथम बंगला साहित्य में ग्रहीत हुआ। हिन्दी में यह छायावाद कहलाया, छायावाद में स्वच्छंदता को विशेष रूप से व्यक्त किया गया है, रचनाओं का आधार मानवीय है। इसकी कालावधि सन् 1920 से सन् 1935 तक मानी जाती है। सूर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला', जयशंकर प्रसाद, सुमित्रानन्दन पन्त, महादेवी वर्मा, डॉ. रामकुमार वर्मा, इसके प्रमुख कवि हैं। अंग्रेजी के स्वछन्दतावाद और हिन्दी के छायावाद की प्रवृत्तियों में पर्याप्त साम्य है।

स्वच्छदतावाद की विशेषताएं : विद्वानों ने स्वच्छन्दतावादी कवि कर्म की अनेक प्रकार से परिभाषाएं प्रस्तुत की है तथा उसके अनेक लक्षण बताने का प्रयास किया है संक्षिप्त रूप में स्वछन्दतावाद की विशेषताएं एवं लक्षण ये है :–

1. **व्यक्तिवाद और आत्मनिष्ठा** : स्वच्छदतावाद कवि कर्म को उपयोगितावादी अथवा परान्तः सुखायववादी दृष्टिकोण से नहीं देखते हैं। ये काव्य को आत्म–तुष्टि एवं आत्मभिव्यक्ति का हेतु मात्र मानते हैं।

2. **कल्पना विलाम** : ये कवि कल्पना के स्वच्छन्द प्रवाह में विश्वास करते हैं और कल्पना पर विवेक के अंकुश की आवश्यकता नहीं मानते हैं इनमें मतानुसार कल्पना मानव मस्तिष्क की श्रेष्ठतम प्रक्रिया है।

निष्कर्ष :

उपर्युक्त विवेचन से सुस्पष्ट होता है कि स्वच्छन्दता से व्यक्ति अपने विचारों को स्वतंत्र रूप से प्रकट कर सकता है। स्वच्छन्दता का अविर्भाव सूर्यकान्त त्रिपाठी से माना जाता है। उन्होंने कहा भी है –

''सहज मुक्त छन्द प्रकाशन मन का।

निज भावों को प्रकट कर अकृतिम चित्र का।।''

डॉ. नगेन्द्र के शब्दों में :– ''विषयगत लक्षण राष्ट्रीय अतीत तथा मध्य युग से सम्बन्धित दृश्यों, घटनाओं एवं पात्रों का चित्रण अमूर्त की उपेक्षा मूर्त की स्वीकृति प्राकृतिक दृश्यावली तथा उससे उत्पन्न प्रबल रागात्मक, अद्भुत एवं विस्मयोत्पादक व्यापार आत्मा और परमात्मा स्वप्न तथा अवचेतनायें सभी स्वच्छन्दतावाद साहित्यकारों के विषय रहे। जो स्वच्छदतावाद साहित्यकार उत्प्रेरणा तथा कल्पना शक्ति को काव्य का उत्स मानते थे उनके द्वारा शिल्प के नियमों तथा रूढ़ि सम्मत आदेशों की अवहेलना होनी स्वाभाविक है।''

4. अभिव्यंजनावाद

अभिव्यंजनावाद :

NOTES

अभिव्यंजनावाद से तात्पर्य उस वाद या काव्य सिद्धान्त से है, जिसमें भावनाओं की अभिव्यक्ति को ही 'कला' कहा जाता है। अभिव्यंजनावादी कलाकार आत्माभिव्यक्ति को ही काव्य मानते हैं। अभिव्यंजनावाद के सिद्धान्त के अनुसार कलाकार या कवि मात्र अपने अन्तर की भावना को प्रकाशित करता है, किसी बाह्य वस्तु का रूपांकन नहीं करता।

उद्भव एवं विकास :

19वीं शताब्दी में यूरोप में समीक्षा शास्त्र के क्षेत्र में दो विचारधायें प्रभावशाली थी (1) कला, कला के लिये तथा (2) कला लोकहित के लिये। पहले वर्ग की अन्तर्गत समाज की पूर्णतः अवहेलना की गई और इन साहित्यकारो ने अश्लील साहित्य की रचना की। द्वितीय वर्ग अत्यधिक आदर्शवादी था। दोनों ही वर्ग अपनी सीमाओं को पार कर रहे थे। इस कारण इनकी अभिव्यक्ति एक पक्षीय होकर रह गई। इनके समन्वय के लिये 20वीं शताब्दी के आरम्भ में इटली के विद्वान 'बेनाडोटे क्रोंचे' ने अभिव्यंजनावाद का प्रवर्तन किया। 17वीं शताब्दी में यूरोप में कला के क्षेत्र में स्वतन्त्रता के मांग प्रारम्भ हो गई थी। वहां समीक्षा के क्षेत्र में कल्पना का प्रभाव दिखाई देने लगा, जर्मनी के विद्वान इसका नेतृत्व कर रहे थे, जिसमें लेसिंग प्रमुख था उसने भावाभिव्यंजना को काव्य का उद्देश्य माना उसका सिद्धान्त सौन्दर्य सिद्धान्त कहलाया।

19वीं शताब्दी में समस्त विद्वान, कवि और समालोचक पुरानी, मान्यताओं को त्याग कर साहित्य को नयी दृष्टि से देखने लगे। वर्ड्सवर्थ, कॉलरिज, गेटे आदि कवियों ने इसका समर्थन किया। साहित्य में इस प्रकृति को रोमाण्टिसिज्म कहकर पुकारा। क्रोचे कला को प्रकृति की अनुकृति मानते थे।

क्रोचे के अभिव्यंजनावाद का विवेचन :

क्रोचे के अभिव्यंजनावाद ने 20वीं शताब्दी के आरम्भिक दशकों में साहित्य तथा समालोचना के क्षेत्रों को व्यापक रूप में प्रभावित किया। आलोचकों ने अपनी–अपनी बुद्धि के अनुसार व्याख्यायें प्रस्तुत कीं। क्रोचे ने अपने सिद्धान्त को प्रतिभाज्ञान, प्रमेय ज्ञान, सहजानुभूति तथा अभिव्यक्ति आदि शब्दों के आधार पर अभिव्यक्त किया है –

'सहजानुभूति ज्ञान अभिव्यंजनावाद ज्ञान होता है वह ज्ञान बौद्धिक क्रिया से स्वतन्त्र एवं स्वायत्त होता है सहजानुभूति प्रतिनिधान रूप है इसीलिये जो अनुभव सहजानुभूति से भिन्न है, वह संवेदन के प्रवाह से भिन्न है।'

क्रोचे कला को सहजानुभूति और सहजानुभूति को अभिव्यंजना मानता है इस प्रकार उसने कला को प्रकारान्तर से अभिव्यंजना सिद्ध किया है। यह अभिव्यंजना न प्रकृत अनुभूति होती है और न प्रकृत पदार्थ होती है।

यदि कोई भी कला स्वयं को कला के रूप में व्यक्त न करे तो उसे कला नहीं कहा जा सकता है। अभिव्यक्ति की सफलता को ही क्रोचे ने कला माना है।

NOTES

मार्क्सवाद

मार्क्सवाद :

मार्क्सवाद का जन्म दार्शनिक कार्ल मार्क्स (सन् 1818–1883) के विचारो से हुआ। मार्क्स ने अतीव चमत्कारिक विचार प्रकट किये, इस कारण सारे संसार में इनका प्रभाव दिखाई देता है वर्तमान साहित्य और आलोचना पर मार्क्सवादी विचारधारा का प्रगतिशीलता की दृष्टि से अत्याधिक प्रभाव पड़ा है। मार्क्स के विचार नितान्त मौलिक पर व्यवहारिक है तथा उनमें जीवन की वास्तविकता के दर्शन होते हैं। दलित मानवतावाद के प्रति सद्भावना रखने वाले लोग मार्क्स को विश्व–सर्वहारा का मुक्तिदाता स्वीकार करती है। यही कारण है कि कार्ल मार्क्स की गणना प्रमुख विचारकों तथा दार्शनिकों में होती है।

मार्क्सवाद का दर्शन समाजवाद है और इसका मूल आधार वर्ग–संघर्ष है। मार्क्स ने सभी आदर्शवादी वृत्तियों का विरोध किया है और उन्हें व्यर्थ का भटकाव है, अपने मैनिफेस्टो में मार्क्स ने पूंजीवाद के अभिशाप वर्ग–संघर्ष, औद्योगिक संकट तथा शोषक–शोषित की जिंदगी पर क्रांतिकारी विचार व्यक्त किए है। मार्क्स ने सर्वप्रथम समाज का विश्लेषण करने में, सृष्टि में समाज की स्थिति और सामाजिक परिवर्तन आदि पर नये ढंग से भौतिकवादी सिद्धांत की स्थापना की, साथ ही साहित्य और समाज के संबंध में गंभीर विचार व्यक्त किए।

(1) मार्क्सवादी समीक्षा सिद्धांत :

इसे प्रगतिवादी समीक्षा पद्धति भी कहा जाता है। यद्यपि मार्क्स से पूर्व भी बेलिस्की, सर्जन आदि चिंतकों में भी उक्त सिद्धांत दिखाई देते हैं, मार्क्सवाद सृष्टि और समाज का समन्वित दर्शन है। अतः मार्क्सवाद का अपना एक दृष्टिकोण भी है। मार्क्स का पर्याप्त साहित्य उपलब्ध होने के बाद भी उनकी समीक्षा सिद्धांत पर कोई कृति उपलब्ध नहीं है। उनका साहित्य आर्थिक विषमताओं पर आधारित है। मार्क्सवादी चिंतन बहुत व्यापक है। उनमें चार सिद्धांतों का उल्लेख किया गया –

(1) **द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद** : यह एक सर्वांगीण जीवन–दर्शन है जो कि दो शब्दों से निर्मित है– द्वन्द्व और भौतिकवाद। द्वन्दात्मक भौतिकवाद वह दार्शनिक दृष्टिकोण है, जिसके अनुसार सृष्टि का तत्व 'पदार्थ' है, जिसका निरंतर रूप परिवर्तित हो रहा है, इसकी परिवर्तन की प्रणाली द्वन्दात्मक है, जिसके अनुसार हर एक स्थिति के मूल में संघर्ष स्थित है और संघर्ष इसलिए है कि उस परिस्थिति विशेष में ही उनके नाश के उपकरण सन्निहित है।

एंजिल्स ने इसकी व्याख्या एक उदाहरण से की, उन्होंने एक बीज का उदाहरण दिया, जिस प्रकार एक बीज पुनः अंकुरित होकर नये बीज

बनाता है। यह क्रिया समन्वय कहलाती है उन्होंने बीज को एक स्थिति माना। बीज का अनेक विपरीत परिस्थितियों में संघर्ष करके अंकुरित पौधे के रूप में बदलना ही प्रक्रिया कहलाता है। मार्क्स ने सामाजिक स्तर पर इसे आर्थिक व्यवस्था के आधार पर स्वीकार किया।

NOTES

(2) ऐतिहासिक भौतिकवाद : आत्मवादी दर्शन यह स्थापित करता है कि मानव संस्कृति के विकास का आधार 'चेतना' की निरंतर विकास प्रक्रिया है यह विचारधारा इतिहास दर्शन की विचारात्मक या आदर्शवादी व्याख्या कहलाती है, हीगेल इस मान्यता के समर्थक थे। इस सिद्धांत के विरूद्ध ही ऐतिहासिक भौतिकवाद के सिद्धांत का सूत्रपात हुआ। इस सिद्धांत ने अगोचर, आत्मतत्व या सूच्म को अस्वीकार करते हुए गोचर, स्थूल, आर्थिक, सामाजिक आदि परिस्थितियों के आधार पर ऐतिहासिक विकास की प्रक्रिया स्वीकार की।

(2) मार्क्सवादी सिद्धांत की मान्यताएं :

(1) विकास का आधार :– इसे स्पष्ट करते हुए एंजिल्स ने कहा था कि ''मार्क्स का एक महान कार्य मानव इतिहास में विकास के नियम की खोज था। उसने अब तक विचारधाराओं के झाड़–झंखाड़ में छिपे हुए इस सरल तथ्य का पता लगाया था कि मनुष्य जाति को राजनीति, विज्ञान, धर्म आदि का विकास करने से पहले खाने–पीने की, निवास की और कपड़ों की आवश्यकता है।

(2) समाज विकास का आधार : मार्क्स के अनुसार अर्थ–तंत्र, अर्थ उत्पादन और अर्थगत संबंध बदलते रहते हैं। इसके आधार पर ही मनुष्य की नैतिक, चारित्रिक और आचारगत मूल्य दृष्टि को विकास होता है।

(3) मार्क्सवाद का अवदान : मार्क्सवाद का आधार द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद है। इस दर्शन के अनुसार वस्तु चरम सत्य है। बुद्धि विचार और चेतना उसी के प्रतिबिम्ब है। मार्क्सवाद ने जगत की परिवर्तनशीलता बताकर सब वस्तुओं में उपस्थित विरोधी तत्व को सदैव विद्यमान बताया है। इस प्रकार मार्क्सवाद का अवदान वर्ग–विहीन और शोषण विहीन समाज की रचना करने की प्रेरणा देता है। सारे विश्व में चिंतन, समाज व्यवस्था, शासन और मानवीय संबंधों को इसने नये रूप में उपस्थित करके सामाजिक स्वरूप को अत्यधिक प्रभावित किया है। इस दृष्टि से मार्क्सवाद से विश्व समाज को नया मार्ग मिलता है।

निष्कर्ष :

इस विवेचन के आधार पर संक्षेप में कहा जा सकता है कि कार्ल मार्क्स ने अपने सिद्धांतों में सामाजिक प्रवृत्तियों का उचित विश्लेषण किया है और सभी

NOTES

व्यवस्थाओं के मूल में आर्थिक चिंतन तथा उत्पादन को प्रमुख तत्व बताया है। इसमें मानव–संस्कृति के विकास का आत्मवादी दर्शन व्यक्त हुआ है। साहित्य का अपना क्षेत्र है, यद्यपि जीवन से सम्बद्ध होने के कारण उसका अर्थ से भी घनिष्ठ संबंध है, पर मार्क्स की यह दृष्टि एकांगी ही कही जाएगी और यही कहा जाएगा कि मार्क्स वस्तु परक होकर ही रह गए हैं।

5. मनोविश्लेषण

मनोविश्लेषण :

फ्रायड को मनोविश्लेषणवादी आलोचना का आचार्य कहा जाता है। युंग एवं एडलर का प्रभाव भी इस समय स्वीकार किया जाता है।

फ्रायड का सैद्धांतिक दृष्टिकोण : डॉ. सिग्मंड फ्रायड को मनोविश्लेषण का जन्मदाता माना जाता है और उनसे प्रभावित होकर कई पाश्चात्य आलोचकों ने पाश्चात्य साहित्य के विभिन्न युगों का भी मनोविश्लेषणवाद की पृष्ठभूमि में विश्लेषण किया है।

फ्रायड आलोचना के क्षेत्र में व्यक्तिवाद के जनक है किन्तु उनके व्यक्तिवाद का व्यक्ति संकीर्ण मनोविकारों से ग्रस्त न होकर उन गुह्य ग्रंथियों के उद्घाटन से अभिनिर्मित है जिनका उसके व्यक्तित्व संगठन में, चेतन निर्माण में एक महत्वपूर्ण भूमिका रहती है जो उसके वहिर्चेतन के लिए उत्तरदायी है। फ्रायड अवचेतन मन के विश्लेषण द्वारा साहित्य, संस्कृति, धर्म आदि की नयी व्याख्या प्रस्तुत करते हुये अपने युग में व्याप्त झूठी नैतिकता, आडम्बरपूर्ण आदर्शों को मिथ्या साबित कर मनोविश्लेषण शास्त्र की आधार शिला रखी।

फ्रायड के अनुसार मानव मन चेतन एवं अवचेतन नामक दो छोरों के मध्य फैला हुआ है और इन दो छोरों के बीच में जो अंधकारमय प्रदेश है, उसका ज्ञान मनुष्य की चेतना को नहीं होता। इस अंधकारमय प्रदेश को फ्रायड 'अचेतन' की संज्ञा प्रदान करता है। इन तीन स्तरों वाले मानव तन्त्र को वह स्थूल दृष्टि से पुनः तीन प्रकृतियों में विभाजित करता है और मनुष्य के सम्पूर्ण मानसिक जीवन को 'इदम्' अहम् एवं परम् अहम् में बांटता है इनमें से 'इदम्' व्यक्ति की 'आनुवंशिकता' जन्मजात गुण होते हैं यह मन के अवचेतन स्तर पर रहने से व्यक्ति इससे अपरिचित रहता है यह व्यक्ति की अतृप्त इच्छाओं एवं वासनाओं का अन्धकारमय कोष होता है क्योंकि यहीं से कामशक्ति की प्रेरणा उत्पन्न होती है।

व्यक्ति जब बाहरी सम्पर्क में आता है तो उसका प्रभाव उसके मन पर पड़ता है और अहम् का निर्माण होता है जो व्यक्ति को अनुशासन और नियम प्रदान करता है, वही अचेतन मन अवांछित इच्छाओं को पूरा करने के लिए प्रेरित करता है।

फ्रायड मन की दो वृत्तियाँ मानता है :–

(1) कामवृत्ति और (2) मृत्युवृत्ति

कामवृत्ति से मन की काम शक्ति सम्बन्धित है और मृत्युवृत्ति को आत्महनन, ईर्ष्या एवं द्वेष का पुंज माना है।

NOTES

फ्रायड का कहना है कि हमारे मन में अचेतन मन की इच्छायें चेतन मन में आने का प्रयास करती हैं तथा वे केवल अवचेतन तक ही आ पाती हैं जब सोते समय चेतन मन निष्क्रिय हो जाता है तब अचेतन मन की ये इच्छायें स्वप्नों के माध्यम से अभिव्यक्त होती है। अचेतन मन अविवेकशील एवं दलित इच्छाओं का शक्तिशाली पुंज है पर इदम् की इच्छायें पूर्ण नहीं होती तब वे अचेतन की ओर मुड़ जाती हैं। और अन्य दमित इच्छाओं के साथ मिलकर एकमंडल बनाने लगती है। चेतन एवं अचेतन में हमेशा संघर्ष होता रहता है कभी–कभी व्यक्ति निषेध इच्छाओं का तीव्रता से दमन करता है जिससे व्यक्ति मानसिक रूप से असंतुलित हो जाता है।

फ्रायड कुण्डा के उदात्तीकृत स्वरूप को कला का नियामक तत्व मानता है उसका कहना है कि साहित्य एवं कला प्रकृति मूल्य सम्पन्न नहीं होते, बल्कि वे तो भ्रम और तुच्छ क्षतिपूरक क्रियायें हैं वे कला को विशुद्धतः एक शारीरिक प्रतिक्रिया मानता है और उसमें नैतिकता या आध्यात्मिकता की खोज करना व्यर्थ समझता है।

फ्रायड का कहना है कि कविता में अचेतन की प्रेरणायें विद्यमान रहती हैं कलाकार यथार्थ से पलायन कर सृजन में आनंद लेने लगता है यथार्थ रचनाकार के मार्ग में बाधा डालता है कल्पना का सहारा लेकर लेखक अपनी काम भावना की पूर्ति करता है।

एडलर और युंग की विचारधारा : एल्फ्रेड एडलर और कार्लयुंग फ्रायड के शिष्य थे परन्तु उनकी सैद्धान्तिक स्थापनायें फ्रायड से कुछ भिन्न है। एडलर वैयक्तिक मनोविज्ञान के जनक के रूप में प्रसिद्ध हैं और फ्रायड से आगे से आगे बढ़कर सामाजिक उत्थान के पक्षधर हैं, फ्रायड कामवृत्ति को जीवन की मूलप्रेरणा बतलाता है वहां एडलर आत्म–प्रकाश की मूलवृत्ति को स्वीकार करता है।

मनोविश्लेषणवादी साहित्यशास्त्र में युंग की कला विषयक मान्यताओं का विशिष्ट स्थान है, क्योंकि युंग फ्रायड के समान न तो मानसिक चेतना को कामवृत्तियों का पुंज मानता है और न वह एडलर की तरह सभी सर्जनात्मक क्रियाओं को हीनता की क्षतिपूर्ति समझता है। युंग का सिद्धान्त भाव प्रतिमानों पर आधारित है।

युंग का विचार है कि व्यक्ति अपने शब्दातीत भावों को प्रकट करने के लिये कतिपय प्रतीकों का प्रयोग करता है और स्वप्न निरूद्देश्य न होकर, व्यक्ति की अनकही भावनाओं को प्रकट करते हैं।

युंग का कहना है कि कलाकृति का अर्थ एवं विशेषता स्वयं कलाकृति में निहित होती है और उसे पूर्वास्थाओं एवं पूर्व तत्वों में खोजा नहीं जा सकता।

NOTES

युंग के अनुसार कलाकार या तो बहिर्मुखी होते हैं या अन्तर्मुखी। बहिर्मुखी स्वयं को किसी अन्य तत्व या काव्य वस्तु के अधीन पाता है तथा अन्तर्मुखी कलाकार कुछ चेतन उद्देश्यों के अनुरूप विषयवस्तु का विवेकपूर्ण अंकन करता है।

मनोविश्लेषणवादी विचारकों का हिन्दी साहित्य में महत्वपूर्ण स्थान है, यह वाद व्यक्ति वैचित्र्य पर आधारित है।

अस्तित्ववाद :

अस्तित्ववाद संसार की आधुनिकतम विचारधारा के रूप में एक विशिष्टता रखता है। यह मूलतः दार्शनिक प्रणाली है पर साहित्य अथवा काव्य में भी इसका प्रभाव लक्षित होता है। इसका समग्र विवेचन फ्रांस के प्रसिद्ध दार्शनिक ज्योपाल सार्त्र ने किया है और इसे जर्मनी के हमरेल, हेडेंगर तथा डेनमार्क के कीर्कगार्ड ने और आगे बढ़ाया है। आज अस्तित्ववादी विचारधारा किसी स्थान अथवा देश तक सीमित न रहकर समग्र विश्व के विचारकों द्वारा मान्य हो चुकी है।

1. उद्गम और विकास :

अस्तित्ववाद का मूल आधार मनुष्य की अवशता, असहायता व निरूपायता को माना गया है। विश्व युद्धों ने यह प्रमाणित कर दिया है कि मानव का अस्तित्व नगण्य है। अतः अस्तित्ववाद अपने पूरे आवेग से उभरकर सामने आया परन्तु इसके चिंतन के स्रोत बहुत पहले से विद्यमान थे।

मनुष्य के ऊपर विधि–निषेध और धर्म बंधन बढ़ने के कारण मानवीय सत्ता का अस्तित्व समाप्त होता गया। इसके विरोध में डेनिश चिंतक सारेन कीर्कगार्ड ने आवाज उठाई। ये आदर्शवादी चिंतक हीगेल के घोर विरोधी थे। ये आदर्श से दबे मानव को स्वच्छंद बनाना चाहते थे। वैसे भी वैयक्तिक स्वच्छंन्दता का पक्षधर अस्तित्ववाद सभी के द्वारा माना जाता है।

2. अस्तित्ववाद का मूल अर्थ :

साधारण रूप से अस्तित्ववाद का अर्थ है– मनुष्य का इस सृष्टि और संसार में उसके आगमन के पीछे कोई प्रयोजन निहित नहीं है।

मानव का अस्तित्व सप्रयोजन योजनाबद्ध और सार्थक है– इस विचार के विरुद्ध अस्तित्ववादी तर्क करता है कि मनुष्य को ''अपने अनंत उत्तरदायित्वों के बीच पृथ्वी पर असहाय और अकेला छोड़ दिया जाता है। उसकी नियति और कुछ नहीं, वही है जो बना ले।'' इस प्रकार मानव अस्तित्व पूर्णतः शून्य है।

3. **अस्तित्ववाद का स्वरूप व दार्शनिक दृष्टिकोण** : अस्तित्ववाद अस्तित्व को सारतत्व से भी अधिक प्रधानता देता है और सार तत्व, वस्तु या व्यक्ति के वे गुण विशेष है जो उसका निर्माण करते हैं। जैसे– मैं मानव हूं, मानवता मेरा सार तत्व है। सार तत्व दो प्रकार का होता है।

1. **समष्टिगत** : तत्व को एक जाति के सभी पदार्थों में पाया जाता है, मानव के समष्टि तत्व वे हैं, जो उसे मानव की संज्ञा प्रदान करते हैं, तथा जिसके अभाव में मनुष्य–मनुष्य नहीं रह पाता। जैसे– विवेक या चिंतन शक्ति

2. **व्यष्टिगत** : सार तत्व किसी विशेष पदार्थ में पाये जाते हैं। यह तत्व हमें वह मनुष्य बनाता है, जिसके कारण कोई मनुष्य कायर या वीर, ईमानदार या बेईमान कहलाता है।

NOTES

देवशास्त्री के अनुसार– किसी वस्तु का अस्तित्व बाद में होता है। पर उसके रूप की पहले कल्पना कर ली जाती है। यदि ईश्वर के द्वारा सृष्टि की रचना मानी जाये तो हमें यह मानना होगा कि उसने पहले इस जगत की कोई कल्पना अवश्य की होगी।

1. **मानव संबंधी विचार** : अस्तित्ववादी मानते हैं कि चेतना के लिए शरीर आवश्यक है। साथ ही सार्त्र आदि सूक्ष्म आत्मा को स्वीकार न कर, केवल चेतना को मानते हैं। जिसके कारण मनुष्य अन्य पदार्थ से भिन्न है और जिसकी सहायता से हम घड़ी की आवाज सुन सकते हैं। इसी चेतना द्वारा मनुष्य परमात्मा बन सकता है।

2. **जगत विषयक दृष्टि** : अस्तित्ववादियों का कहना है कि प्रत्येक व्यक्ति के लिए यह जगत उसकी रूचि एवं उद्देश्य आदि के कारण भिन्न–भिन्न रूप धारण कर लेता है और हम जगत पर नहीं बल्कि जगत हम पर निर्भर है।

3. **ईश्वर संबंधी धारणा** : अस्तित्ववादी ईश्वर के अस्तित्व में विश्वास नहीं करते। उनकी दृष्टि में इस विषय के निर्माण के पीछे न कोई कारण है और न उद्देश्य और न उसके बनाने की कोई आवश्यकता थी।

4. **मृत्यु विषयक दृष्टि** : अस्तित्ववादी मृत्यु को अनिवार्य मानते हैं। उनका कहना है कि मृत्यु से मनुष्य बचने की चेष्टा करता है। यद्यपि यह जीवन का अनिवार्य अंग है पर मृत्यु से वैयक्तिक अस्तित्व की संभावनायें समाप्त नहीं होती केवल बुझ जाती हैं। क्योंकि किसी की मृत्यु उसके शरीर को प्रियजनों से भले ही छीन ले, चेतनामय भावनाओं को नहीं मिटा सकती है। अतः मृत्यु भी जन्म की तरह एक तथ्य मात्र है।

अस्तित्ववाद का साहित्यिक स्वरूप :

अस्तित्ववाद के प्रर्वतक कीर्कगार्ड का मत है कि अस्तित्ववादी विचार प्रत्यक्षतः प्रस्तुत नहीं किये जा सकते और उनकी अभिव्यक्ति के लिए अप्रत्यक्ष माध्यम अर्थात उपन्यास, कहानी, नाटक एवं जीवन के ऊँचा उठाने वाले लेख आदि ही उपयुक्त हैं।

इतना अवश्य है कि अस्तित्ववाद व्यक्ति को स्वयं अपना निर्माण करने और अपने लिए आदर्श निर्धारित करने की स्वतंत्रता प्रदान करता है तथा दूसरों की नकल करना उचित नहीं समझता। ज्यापाल सार्त्र की सर्वप्रथम पुस्तक ''ह्वाट इज लिटरेचर'' में उनके साहित्यिक विचार संकल्पित है।

डॉ. प्रतापनारायण टंडन के अनुसार ''यह दर्शन विभिन्न विरोधों का दर्शन है तथा युग की विचारधारा का प्रतिनिधित्व करता है।'' अस्तित्ववादी विचारधारा युग संस्कृति में आये हुए पराभव के तत्वों की सैद्धांतिक व्याख्या करती है। यह मानव तथा उसके अस्तित्व के अतिरिक्त किसी अन्य बात पर ध्यान नहीं देती है।

NOTES

अस्तित्ववाद के विचारों की समीक्षा :

अस्तित्ववादी विचारकों का विचार है कि मनुष्य सार्वभौम तत्व का निर्माण नहीं कर सकता, परन्तु अपने व्यक्तित्व सार तत्व के द्वारा वह एक विशिष्ट मानव अवश्य बन जाता है।

सार्त्र का तो यहां तक कहना है कि व्यक्ति की जाति, चेतना कार्य का स्वरूप, उसके भाव और विचार भी उसके निर्माण के हेतु है मनुष्य आज जो कुछ भी है। उसका भविष्य इसी पर निर्भर करता है। अस्तित्ववादी दृष्टि आशावादिता और प्रगतिशीलता पर निर्भर करती है।

निष्कर्ष :

निष्कर्ष रूप में कहा जा सकता है कि अस्तित्ववाद में व्यक्ति का चित्रण साधारण की अपेक्षा विशेष है और यह आत्मगत विवेक पर विशेष बल देता है। साथ ही इसमें जो उत्तरदायित्व हीनता पायी जाती है उसके कारण यह उच्छृंखलता को ही जन्म देता है। फिर भी यह निर्विवाद है कि इस सिद्धांत ने साहित्य को पर्याप्त प्रभावित किया है और अपने शुद्ध रूप में यह एक महत्वपूर्ण सिद्धांत है। क्योंकि यह व्यक्ति को अपने निर्माण और आदर्श निर्धारण के लिए स्वतंत्र छोड़ देता है। साहित्य जगत में एक सृजनशील शक्ति के रूप में अस्तित्ववाद का प्रमुख स्थान है।

संरचनावाद :

संरचनावाद की मूल प्रेरणा 'नवाविज्ञान' (1725) नामक ग्रंथ है। जहां पेजे ने संरचना के तीन घटकों का वर्णन किया है। ये घटक साकल्य, रूपान्तरण और आत्मानुशासन हैं। संरचनावाद वर्तमान की प्रमुख विश्लेषण प्रणाली है, इसका विस्तार साहित्य से लेकर जीव विज्ञान अर्थशास्त्र और नृतत्वशास्त्र तक है। प्रत्येक वस्तु के कुछ घटक होते हैं तथा उन घटकों के आपसी संबंध भी होते हैं। प्रत्येक घटक की अपनी संरचना है तथा उसकी दूसरे घटकों से सम्बद्धता तथा समस्त घटकों की समग्रता में एक संरचना है। इस सबके विश्लेषण की एक पद्धति है, इस पद्धति को 'संरचनावाद' नाम दिया गया है।

घटक और संरचना में 'अंगांगी' संबंध होता है। प्रत्येक घटक एक आन्तरिक नियम से संचालित होकर संरचना का हिस्सा बन पाता है। रचना प्रक्रिया के दौरान कृति का रूपान्तरण होता चलता है, यह रूपान्तरण आन्तरिक नियमों द्वारा संचालित होता है, इस तरह संरचना एक प्रक्रिया भी है तथा अपने में पूर्ण भी है।

NOTES

भाषाविद् सास्यूर ने भाषा के दो तत्वों– लॉग (भाषा) तथा परोल (उच्चार या वाक्) का उल्लेख किया है। परोल या वाक् भाषा के आन्तरिक नियमों से नियंत्रित होता है साथ ही भाषा वाक् में अंशतः मूर्त या प्रकट भी होती है। संरचनावादी दुनिया के मिथकों का अध्ययन कर यह पाते हैं कि एक ही मिथक के भिन्न–भिन्न रूप परोल या वाक् हैं तथा मूल मिथक भाषा है। इस वाक् के आधार पर ही भाषा के नियमों की तलाश करना संरचना है।

साहित्यिक संरचना के क्षेत्र में रोलाँ बार्थ का नाम भी प्रमुख है। बार्थ के संरचना माडेल का संबंध पाठ या कृति के नजदीकी विश्लेषण से है– अंगी के साथ अंग के संबंध के विश्लेषण से हैं साहित्यिक कृति की यह व्याख्या कृति के रूपात्मक पक्ष पर आधारित है। यह विश्लेषण पद्धति पाठ या कृति की ऐतिहासिकता, वैयक्तिकता, अर्थवत्ता आदि से असम्बद्ध रहती है। किसी साहित्यिक कृति का पाठ भी समय, स्थान और समाज से असंपृक्त नहीं, वह इन्हीं की देन है। वह समाज से प्रभावित होता है तथा समाज को भी प्रभावित करता है, लेकिन संरचनावाद इस सब को नहीं मानता। पाठ को ही पूर्णतः सब कुछ मान लेना अनौचित्य पूर्ण ही कहा जाएगा।

शैली विज्ञान

शैलीविज्ञान :

शैली से तात्पर्य है 'अभिव्यक्ति का ढंग' अंग्रेजी में इसे Style कहते हैं। शैली वहां प्रकट होती है जहां भाषा का प्रयोग कर्ता उपलब्ध विकल्पों में से अनजाने में या जानते हुए चुनाव (selection) करता है या पहचानने योग्य प्रतिमानों से व्यतिक्रम (Deviation) करता है या आसाधारण प्रयोगों द्वारा विविधता लाता है।

"Style is the personality of the artist showing through medium element and organization."

निबंध में शैली का महत्व सर्वोपरि है, क्योंकि शैली से निबंध का पूर्ण विकास होता है। विचार या भाव निबंध की आत्मा है, भाषा उसका शरीर है और शैली उसकी जीवनी शक्ति है उसका समग्र व्यक्तित्व है।

निबंधकार का व्यक्तित्व के आधार पर यह कहा जा सकता है कि निबंधकार का व्यक्तित्व जितना प्रभावी होगा उसकी शैली भी उतनी ही आकर्षक एवं प्रभावोत्पक होगी इस सन्दर्भ में शैली ही मनुष्य का व्यक्तित्व है।

Style is the men.

शैली के बारह भेद होते हैं :

NOTES

(1) वर्णनात्मक शैली
(2) विवेचनात्मक शैली
(3) भाषण शैली
(4) रसात्मक शैली
(5) चित्रात्मक शैली
(6) भावात्मक शैली
(7) व्यंग्यात्मक शैली
(8) मुहावरा शैली
(9) संलाप शैली
(10) उद्धरण शैली
(11) प्रतीकात्मक शैली
(12) आलंकारिक शैली

प्रमुख शैली : (अ) समास, (ब) व्यास, (स) धारा, (क) प्रसार, (ख) तरंग आदि

शैली विज्ञान की शाखायें और अनेक कार्य :–

(1) ध्वनि शैली विज्ञान
(2) शब्द शैली विज्ञान
(3) रूप शैली विज्ञान
(4) वाक्य शैली विज्ञान
(5) अर्थ शैली विज्ञान आदि।

शैली विज्ञान :

(1) जब भाषा वैज्ञानिक विश्लेषण पद्धतियों का अनुयोग करते हुए किसी साहित्यिक कृति का विश्लेषण किया जाता है तो इस प्रकार की अध्ययन पद्धति को शैली वैज्ञानिक अध्ययन कहा जाता है।

(2) भारतीय काव्यशास्त्र में रीति सम्प्रदाय की मान्यताएँ शैली विज्ञान से सर्वाधिक मिलती जुलती हैं इसलिए शैली विज्ञान को कुछ समीक्षक रीतिविज्ञान भी कहते हैं।

(3) शैली विज्ञान में शैली एक ओर सहेतुक भाषा पद्धति है। वह भाषा और साहित्य को जोड़ने वाली संकल्पना है तो दूसरी ओर साहित्य और कला को सम्बद्ध करने वाली अवधारणा है अर्थात् कलात्मक संवेग की अभिव्यंजक भाषिक संरचना है।

(4) शैली विज्ञान का चिंतन वस्तुपरक है और दृष्टि भाषावादी इसका उद्देश्य मूलतः वैज्ञानिक अध्ययन द्वारा एक साहित्यिक कृति का भाषिक विश्लेषण करना है।

(5) शैली विशिष्टता या विलक्षणता का नाम है। वक्ता अपनी मनोवृत्ति के अनुसार भाषीय अभिव्यक्ति में विलक्षणता लाता है। यह विलक्षणता –

(i) वक्तृ मनोवृत्ति के अनुरूप विचार सूचक शब्दों के चयन में होती है।

(ii) पदरचना के स्तर पर विशेष प्रकार की रचना को अपनाने में होती है।

(iii) शब्दावली के चयन में (क) तत्सम तद्भव या अन्य भाषीय शब्दावली के प्रयोग अथवा (क) विभिन्न संदर्भों पर आश्रित विशिष्ट पदावली के प्रयोग, (ख) औपचारिक या अनौपचारिक स्थितियों के अनुकूल प्रयोग भेद से विशिष्टता आती है।

NOTES

शैली वैज्ञानिक धारणाओं का सार :

(1) भाषा वाच्चार्थ के अतिरिक्त और क्या कहने में कहाँ तक और कितनी समर्थ है।

(2) व्याकरण से कितनी नियमित है तथा अन्य प्रयोग कर उसने क्या विशेषताएँ अर्जित की हैं।

(3) अर्थ की समान स्थितियों और समान विन्यास में प्रयुक्त शब्द समुच्चय का संदर्भगत वैशिष्ट्य

(4) चयन के अक्ष और संगठन के अक्ष में संतुलन।

(5) भाषा की वर्णनात्मक कोटियों के सामंजस्य और रचना पैटर्न के अभिसरण का अध्ययन।

(6) भाषा के विशिष्ट प्रयोग और प्रत्यक्ष तथा गहन स्तरों का अध्ययन।

शैली वैज्ञानिक समीक्षा के प्रमुख तत्व :–

(1) चयन (Choice)

(2) विचलन (Deviation)

(3) समानान्तरता (Paraleclism) भाषिक इकाई की पुनरावृत्ति।

(4) विविधता (Varieaty) असामान्य प्रयोगों द्वारा वैविध्य लाना।

जहाँ उक्तियों में 'विकल्प' की गुंजाइश है और उन विकल्पों में से अनजान में या जानकार ही चुनाव होता है वहां शैली तत्व क्रियाशील होता है। शैली में चुनाव की कल्पना प्रमुख है। काव्य भाषा का भाषा के सामान्य मानक रूप से विचलित होना डेविएशन है किसी भाषिक इकाई की पुनरावृत्ति समानान्तरता है।

शैली विज्ञान :

NOTES

(1) अधुनातन साहित्यशास्त्र की प्रवृत्ति बहुमुखी है। आज शाब्दिक संकेतों एवं प्रतीकों को भाषा वैज्ञानिक सिद्धांतों के प्रकाश में भी निरखा परखा जाने लगा है। परिणामतः साहित्य का व्यावहारिक तथा शैली वैज्ञानिक अध्ययन प्रारम्भ हो गया है। इस क्षेत्र में प्राथमिक प्रयासों का बहुत कुछ श्रेय, चार्ल्स, आग्डेन, आई. ए. स्पिड्र्स तथा कुछ नव्य अमरीकन समीक्षकों को भी जाता है जो सौन्दर्य को नए ढंग से परिभाषित करने के आग्रही हैं तथा 'भाषा के संवेगात्मक' प्रयोगों के विवेचन विश्लेषण में आस्था रखते हैं।

(2) समसामयिक नयी समीक्षा आलोचना की पाश्चात्य प्रभावित मुख्य प्रवृत्ति है। इसके स्वरूप को प्रतिष्ठित करने वाले अमरीकी समीक्षक प्रो. स्पिनगार्न, जान को रेन्सम थे। इनके साथ ही विक्स, वारेन, टेट, एम्पसन्, ब्रुक्स आदि पाश्चात्य समीक्षकों ने भी नयी समीक्षा के क्षेत्र में उल्लेखनीय कार्य किया है।

(3) नए आलोचक अपना ध्यान कृति पर केन्द्रित करते हैं। उनकी दृष्टि में आलोचना का प्रयोजन एवं विषयवस्तु कृति होनी चाहिए न कि कृतिकार। वे कृति के स्वायत्त अध्ययन पर बल देते हैं अर्थात कृति का अध्ययन बहिर्मुख न होकर अन्तर्मुख होना ही नयी समीक्षा की महत्वपूर्ण उपलब्धि है।

(4) चूंकि कृति को कृति की तरह ही पढ़ा एवं समझा जाये इसलिए स्वभावतः नया समीक्षक कृति की भाषा की ओर अधिक उन्मुख हुआ है।

(5) नयी समीक्षा अभ्यंतर आलोचना है चूंकि काव्यकृति की सत्ता स्वायत्त है, इसलिये भाषा के अन्दर ही जन्म लेती है ऐसा नए आलोचकों का विश्वास है। ब्रुक्स ने लिखा है कि– ''आधुनिक आलोचना की मूलवृत्ति भाषा और प्रतीकवाद की गहरी रुझान से प्रेरित है।''

इस दृष्टि से पश्चिमी जगत के अधिकांश नए समीक्षक किसी भी साहित्य कृति को एक विशिष्ट भाषिक संरचना के रूप में देखने के पक्षधर हैं और इस प्रकार वे समीक्षा के भाषावादी अथवा शैली–वैज्ञानिक दृष्टिकोण पर बल देना चाहते हैं। उनकी दृष्टि में ''कोई आलोचन भाषिकी को अतिक्रमित नहीं कर सकती है।''

(6) इस प्रकार भाषिकी दृष्टि से साहित्य कृति पर विचार करने वाली आधुनिक समीक्षा की प्रवृत्ति शैली विज्ञान है।

उत्तर आधुनिकतावाद

उत्तर आधुनिकतावाद :

(1) उत्तर आधुनिकतावाद की प्रवृत्ति आधुनिक समीक्षा में बीसवीं शती के अन्तिम चरण में परिलक्षित हुई।

(2) आज कला, दर्शन, साहित्य, अर्थव्यवस्था एवं तकनीकी के क्षेत्र में हुए परिवर्तनों को नई दृष्टि से देखा परखा, जा रहा है, नए ढंग से परिभाषित किया जा रहा है जिसे आधुनिकता की परिधि में समेटना असंभव सा हो गया है, अतः वर्तमान समय आधुनिकता के बाद का दौर बन चुका है अर्थात् इसे उत्तर आधुनिकता का दौर माना जाने लगा है।

NOTES

(3) द एंड ऑफ मॉडनिटी : 'निहितिज्य एंड हर्मेन्यूटिक्स इन पोस्ट मॉडर्न कल्चर' में गियन्नी वातीयो ने लिखा है कि यदि हम अपने बाहर रिक्तता देखते हैं और अपने भीतर भी खालीपन पाते हैं तो मैं निराश नहीं होता हम हमेशा एक नई भूमिका का अविष्कार कर सकते हैं। मेरे सामने असीम संभावनाएँ हैं। आधुनिकतावाद के निष्क्रिय अस्तित्ववादी को उत्तर आधुनिकतावाद के उल्लासपूर्ण स्वतंत्र कर्म में बदला जा सकता है।'' इस प्रकार नई संभावनाओं की खोज के रूप में उत्तर आधुनिकतावाद के अस्तित्व को स्वीकार करते हैं।

(4) पॉल रमान, मिशेल, फूको, जॉक देरिदा तथा रोलांबार्थ उत्तर आधुनिकतावाद के साहित्यिक चिंतक है। रोलांबार्थ ने 'द डेथ ऑफ द ऑथर (1968) में लिखा है, ''समय आ गया है कि आलोचक एवं दर्शन लेखक, साहित्यकार के लुप्त होने या उसके अवसान की वास्तविकता को स्वीकार कर लें, एक संस्था के रूप में लेखक की मृत्यु हो चुकी है। लेखक के अवसान तथा पाठक के आगमन का विवाद बीसवीं शताब्दी के पांचवे दशक से ही प्रचलित रहा है। लायनल ट्रिलिंग ने ''लेखक के अन्त' में कहा है कि 'यह युग पाठक का युग है।'' पाश्चात्य देशों में ज्ञान कला एवं दर्शन के क्षेत्र में मौत की घोषणा करना एक फैशन सा चल पड़ा। टामरन एजि और विलियम हेमिल्टन ने 'द ऐडिकल थियरी एंड द उेप ऑफ गॉड (1966) में ईश्वर की मृत्यु की घोषणा कर दी। जॉक दरिदा ने मनुष्य की मृत्यु (1982), फ्रांसिस फुकुयामा ने इतिहास का अन्त (1960), वातीयो ने 'आधुनिकता का अन्त' (1991) विक्टर वर्मिन ने 'कला का अंत' (1986), एल्बिन (कर्नान ने 'साहित्य की मृत्यु (1990), रोलांबार्थ ने लेखक की मृत्यु (1968) तथा मिशेल फुको ने 'आलोचना की मृत्यु' की घोषणा कर डाली। ये घोषणायें ऐसे समय में हुई जब पाश्चात्य देशों में में सामाजिक, राजनैतिक, आर्थिक क्षेत्र में ऐसे परिवर्तन होने लगे थे, जिन्हें लेखन के द्वारा भी रोका नहीं जा सकता था। औद्योगीकरण की अत्यधिक प्रविधियों के प्रवेश से रोजगार के अवसर लोगों में क्षोभ, निराशा का प्राबल्य हुआ, बेकारी की समस्या भयावह हो गई, कोई नीति–नियम, आदर्श रह नहीं गया। यह अनिश्चितता का दौर था जिसने उत्तर आधुनिकतावाद की प्रवृत्ति को विकसित होने का अवसर दिया।

NOTES

(5) आज बाजारवादी संस्कृति ने उपभोक्तावादी संस्कृति को जन्म दिया है। सूचना प्रौद्योगिकी के माध्यम से विज्ञापन संस्कृति का अपप्रचार हो गया है। इस विज्ञापन युगीन बाजार व्यवस्था में पूंजीवादी देश ही आगे बढ़ पा रहे हैं किन्तु इस व्यवस्था ने मनुष्य उसकी संवेदना एवं उसकी भाषा पर सबसे पहले प्रहार किया है। उत्तर आधुनिकता वादियों की साहित्य संबंधी धारणा बहुत ही निराशाजनक है। साहित्य की मौत की घोषणा करने वाले स्वयं साहित्यकार ही रहे हैं। 'उपन्यास की मौत' (एलियट) काव्य एक मरती हुई विधा है' (एडमंड विल्सन), मानव संबंधों का साहित्य मर गया है। 'डी.एच.लारेंस'– यह घोषणा करने वाले उच्च श्रेणी के साहित्यकार माने जाते हैं। (एल्बिन कर्नान) उत्तर आधुनिकतावाद को इसका हेतु मानते हैं। (द डेथ ऑफ लिटरेचर (1990)। उसने कहा कि 'गत तीस वर्षों के दौरान अमेरिका में साहित्य मर गया कुछ तो अपने हाथों उसकी मृत्यु हुई और कुछ बाहरी आक्रमणों के कारण। रही सही कसर सामाजिक तथा तकनीकी तब्दीली ने पूरी कर दी जिसे हम उत्तर आधुनिकता की संज्ञा से जानते हैं।

(6) उत्तर आधुनिकतावादियों ने कहा है कि साहित्य और साहित्यकार का रिश्ता टूट चुका है। उनकी दृष्टि में साहित्य नाम की कोई वस्तु नहीं है, उससे किसी प्रकार की मंगल कामना करना व्यर्थ है। वह साहित्य को सिर्फ एक 'टेक्स्ट' या 'पाठ' मानते है। इस प्रकार उत्तर आधुनिकतावाद में साहित्य विषयक धारणा बदली है जो साहित्य के अस्तित्व पर ही प्रश्नचिह्न लगाती है।

(7) उत्तर आधुनिकतावादी चिन्तकों का भाषा चिंतन भी पारम्परिक भाषा चिंतन से भिन्न है। वे शब्द और अर्थ का कोई बुनियादी संबंध नहीं मानते। उनके अनुसार अपनी कथनानुसार किसी शब्द का अर्थ गढ़ा जा सकता है। वे इसे शब्द की जनतांत्रिकता कहते हैं।

(8) जिस अमेरिका में उत्तर आधुनिकतावाद का जोर–शोर से प्रचार हुआ अब यहीं पर इसका विरोध भी प्रबल हो गया है। वहां मानवीय संबंधों से दूर जाते साहित्य पर चिंता प्रकट की जा रही है। अमेरिका में 'एसोसिएशन' ऑफ लिटरेरी स्कॉलर्स एंड क्रिटिक्स' नामक एक संस्था का गठन 1994 में किया गया है। यह संस्था साहित्य को अन्य पाठों की रतह एक पाठ नहीं मानती एवं उत्तर आधुनिकतावादियों का प्रत्येक मोर्चे पर विरोध करते हुए साहित्य के प्रति आस्थावान होने का प्रचार–प्रसार करते हैं।

विखंडनवाद

'विखण्डन' को अंग्रेजी में 'दि कंस्ट्रक्शन' कहा जाता है। विखण्डनवाद के जनक जॉक देरिदा माने जाते हैं। यद्यपि विखण्डन पर नीत्शे और हेडेगर ने विचार

पहले से किया है लेकिन देरिदा ने ही विखण्डन की समकालीन स्थापना की है। इस विखण्डनवाद ने पूर्व उपलब्ध साहित्य समीक्षा के समक्ष चुनौती उत्पन्न कर दी है। प्रगतिवादी समीक्षा के विरुद्ध खड़ा विखण्डनवाद मानता है कि कृति, कृतिकार और उसके आशयों, हेतुओं की छानबीन करने वाली समीक्षा मूलतः पोजिटिज्म है, इस प्रकार देरिदा के विखण्डन ने पश्चिमी साम्राज्य के केन्द्रों को हिलाकर रख दिया है। 1966 में हावकिंस विश्वविद्यालय में देरिदा ने एक शोधपत्र पढ़ा जिसके बाद तेजी से विखंडन उभरकर आया और शीघ्र ही इस नई समीक्षा पद्धति ने अमरीकी समीक्षा को आक्रान्त कर लिया।

NOTES

देरिदा मानते हैं कि विखण्डन दार्शनिक आशयों, विषयों, निष्कर्षों, कविताओं, धर्मशास्त्रों, विचारधारा शास्त्रों से संबंधित नहीं है, बल्कि विभिन्न रूप में सार्थक संरचनाओं, अलंकार शास्त्रीय नियमों आदि से संबंधित है। देरिदा का मानना है कि शब्द का अर्थ कहीं भी भाषा के अन्वय में नहीं होता, वह बदलता रहता है। वे शब्द हर पाठ के व्यंजकों की श्रृंखला में सक्रिय रहते हैं। देरिदा ने विखण्डन के माध्यम से साहित्य को दर्शन से भी बड़ा सिद्ध कर दिया है, विखण्डन की मान्यता है कि आलोचना लेखन का एक तरीका है जो किसी चीज में से किसी चीज को खोजता नहीं है, बल्कि संबंधित पाठ में अर्थ का निर्माण करता है। इसलिए वह भी रचनात्मक है जिस तरह रचना पाठ में अर्थ निर्माण करती है उसी तरह आलोचना भी पाठ में अर्थ निर्माण करती है– इसलिए रचना और आलोचना में कोई बड़ा–छोटा नहीं, दोनों 'अर्थ निर्माण' के तरीके हैं विखण्डन की दूसरी बात यह है कि वह 'पाठ' में निहित अर्थ को निश्चित और पूर्ण नहीं मानता। उसकी मान्यता है कि किसी भी पाठ की पूर्ण और अंतिम व्याख्या संभव नहीं है, विखंडन मानता है कि हर पाठ की व्याख्या एक 'मिसरीडिंग है' अंतिम और पूर्ण व्याख्या नहीं। देरिदा मानते हैं कि चूंकि दर्शन भी रूपक की भाषा पर निर्भर है अतः वह सर्वोच्च नहीं वह भी साहित्यवत ही है। देरिदा दर्शन को साहित्य के समकक्ष लाकर साहित्य के महत्व को प्रतिपादित करते हैं। विखण्डन के एक और समर्थक 'पाल दमान' लिखते हैं कि विखंडन के बाद परम्परागत टीका और इतिहास का साहित्य में पुनरागमन हो सकता है। क्रिस्टोकर नोरिस के अनुसार विखंडन की जड़ें संरचनावाद में ही अन्तर्निहित है। झोनाथन कुलर ने भी अपनी पुस्तक ''आन डिंकस्ट्रक्शन'' में विखण्डन को संरचनावाद का विस्तार मान लिया है। परंपरागत व्याख्या को संरचनावादी माना जा सकता है जहां एक स्थिर व्याख्या का दोहराव होता है। कुछ विद्वानों ने नव्य समीक्षा को भी संरचनावाद जैसा ही माना है। नव्य समीक्षा और संरचनावाद में समीक्षा कार्य दूसरे दर्जे का ही है लेकिन विखण्डनवाद उसे भी रचना के समकक्ष है, वैसा ही महत्वपूर्ण मानता है। देरिदा भाषा की संरचनावादी अवधारणा को चुनौती देते हैं। सुधीश पचौरी ने अपनी पुस्तक ''देरिदा का विखण्डन और साहित्य' में लिखा है कि– 'सास्यूर की भाषा में बोले गए की यानी वाचिक की प्राथमिकता मारी गई है, लिखित शब्द दोयम

दर्जे का माना गया है .... सास्यूर अपने विमर्श के ही उल्टे चलते हैं। उनके भाषा चिंतन में लेखन दबा हुआ है साथ ही भाषा का विचार भी दबा हुआ है।

NOTES

देरिदा मानते हैं कि विखण्डन एक सतत् प्रक्रिया है, पठन की गतिविधि है वह अवधारणा मात्र नहीं है। क्रिस्टोफर नोरिस के शब्दों में– 'विखण्डन पढ़ने की ऐसी गतिविधि है जो आसान नहीं है, गहन है। उसके अति उत्साही, पाठ को सिर्फ खेल समझने की जो गलती करते हैं वह ठीक नहीं है।' सुधीश पचौरी के शब्दों में ''देरिदा के लिए लेखन आभ्यन्तर क्रिया है। देरिदा का समस्त लेखन 'लेखक' को उसकी ऐतिहासिक भूमिका प्रदान करने को प्रतिश्रुत है......... लेखक 'वाक' के भीतर भी है और 'बाहर' टैक्स्ट में भी है– साथ ही देरिदा यह भी मानते हैं कि– 'टैक्स्ट के बाहर कुछ नहीं है।'

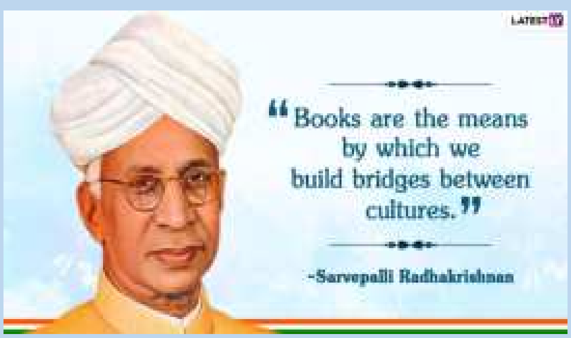

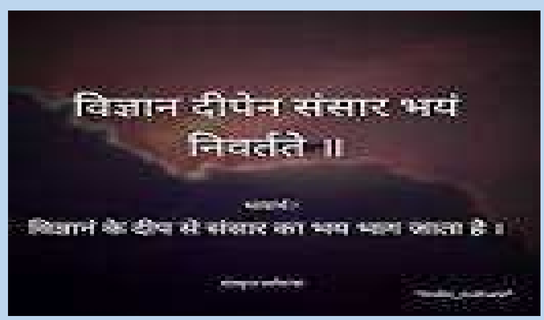

Center for Distance Learning & Continuing Education
MAHATMA GANDHI CHITRAKOOT GRAMODAYA VISHWAVIDYALAYA
Chitrakoot, Satna (M.P.) 485334
E-mail : directordistancemgcgv@gmail.com